

महाकविकालिदासप्रणीतं

कुमारसम्भवम्

(पञ्चमः सर्गः)

(भूमिका, प्रसंग, मूल, अन्वय, सञ्जीविनी टीका, शब्दार्थ,
अनुवाद, व्याख्या, काले कृत आङ्ग्लानुवाद और
व्याकरणात्मक टिप्पणी सहित)

डॉ. निशा गोयल

THE UNIVERSITY OF CHICAGO

PHYSICS DEPARTMENT

PHYSICS 101

LECTURE 1: INTRODUCTION TO PHYSICS

LECTURE 2: KINEMATICS

LECTURE 3: DYNAMICS

LECTURE 4: ENERGY

LECTURE 5: MOMENTUM

LECTURE 6: ROTATION

LECTURE 7: OSCILLATIONS

PHYSICS 101

LECTURE 8: WAVES

LECTURE 9

महाकविकालिदासप्रणीतं कुमारसम्भवम्

(पञ्चमः सर्गः)

(भूमिका, प्रसंग, मूल, अन्वय, सञ्जीविनी टीका, शब्दार्थ,
अनुवाद, व्याख्या, काले कृत आङ्गलानुवाद और
व्याकरणात्मक टिप्पणी सहित)

डॉ० निशा गोयल
असिस्टेण्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
कालिन्दी महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली



विद्यानिधि प्रकाशन
दिल्ली

प्रकाशक :

विद्यानिधि प्रकाशन

डी-10/1061 (समीप श्रीमहागौरी मन्दिर)

खजूरी खास, दिल्ली-110090

Email: vidyanidhiprakashan@hotmail.com

© प्रकाशक

प्रथम संस्करण : 2016

ISBN : 978-93-85539-24-4

मूल्य : Rs. 75.00

मुद्रक :

विशाल कौशिक प्रिंटर्स

दिल्ली

कालिन्दी कॉलेज

(दिल्ली विश्वविद्यालय)

ईस्ट पटेल नगर,

नई दिल्ली-110008

फ़ोन : 25787604 फ़ैक्स : 25782505



KALINDI COLLEGE

(University of Delhi)

East Patel Nagar

New Delhi-110008

Off. : 25787604 Fax : 25782505

E-mail : kalindisampark.du@gmail.com

Website : www.kalindicollege.org

आशीर्वचन

मैंने डॉ० निशा गोयल कृत कुमारसम्भव के पंचम सर्ग की व्याख्या का पूर्णरूपेण अध्ययन किया है। लेखिका ने अत्यन्त परिश्रम और मनोयोग से इसे तैयार किया है जो छात्रों एवं अध्यापकों दोनों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इसकी 35 पृष्ठों की भूमिका में काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कालिदास के समय और जीवनवृत्त पर प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त कुमारसम्भव के महाकाव्यत्व पर भी प्रकाश डाला गया है। श्लोकों की व्याख्या में अन्वय, मल्लिनार्थ कृत संजीवनी टीका, शब्दार्थ के साथ ही महामहोपाध्याय काले जी के आंग्लानुवाद को भी प्रस्तुत किया गया है। पुस्तक को विशेष रूप से छात्रों के लिए उपयोगी बनाने में डॉ० निशा गोयल ने जो प्रयास किया है, वह सराहनीय है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि छात्र एवं अध्यापक दोनों ही इस पुस्तक का हृदय से स्वागत करेंगे। मैं डॉ० निशा गोयल के इस प्रयास से प्रसन्न होकर आशीर्वाद देती हूँ कि इसकी यह पुस्तक अत्यन्त लोकप्रिय हो और यह आगे भी इसी तरह के उपयोगी ग्रन्थों का निर्माण करती रहे।

डॉ० अनुला मौर्य

प्रधानाचार्य, कालिन्दी महाविद्यालय,

दिल्ली विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110008

दो शब्द

संस्कृत संसार की प्राचीनतम परिष्कृत भाषा है। भारतीय मनीषियों का समस्त चिन्तन, मनन, गवेषण और विश्लेषण संस्कृत भाषा में ही होता है। यह ग्रीक, लैटिन, जर्मन इत्यादि अनेक भारोपीय परिवार की भाषाओं की जननी है। भारत की समस्त प्रान्तीय भाषाओं में संस्कृत शब्द का ही प्राधान्य है।

कविकुलगुरु कालिदास की कृति 'कुमारसम्भव महाकाव्य' इसी भाषा में निबद्ध है। यह विद्वानों के मध्य सर्वत्र समादृत है। यही कारण है कि दिल्ली विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में किसी न किसी रूप में इसको स्थान मिला है। विद्यार्थियों की उपयोगिता की दृष्टि से इस संस्करण में शुद्ध हिन्दी अनुवाद, व्याख्या एवं व्याकरणात्मक टिप्पणियाँ दी गई हैं। परीक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विषयों का विवेचन भी भूमिका के अन्तर्गत किया गया है।

मेरा यह प्रयास कितना सफल रहा है, इसका निर्णय तो सुधीजन ही कर सकते हैं। इस पुस्तक की रचना में कुछ त्रुटियाँ भी हो सकती हैं जिसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। मैं उन सभी विद्वानों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ जिनके ग्रन्थों से मैं लाभान्वित हुई हूँ। मैं अपने गुरुजनों, मित्रों और परिवारजनों का धन्यवाद करती हूँ जिनके सहयोग ने मुझे इस ग्रन्थ के लिए प्रोत्साहित किया। मैं विशेष रूप से श्री बद्रीनाथ तिवारी जी के प्रति हृदय से आभार प्रकट करना चाहती हूँ जिन्होंने अत्यन्त परिश्रम एवं मनोयोग पूर्वक इस पुस्तक के प्रकाशन के कार्य को सम्पन्न किया है।

यदि यह पुस्तक छात्रों एवं सामान्य अध्येताओं के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकी तो मैं अपने परिश्रम को सार्थक समझूंगी।

निशा गोयल

विषयानुक्रमणिका

आशीर्वचन	3
दो शब्द	4
भूमिका	7-42
काव्य का स्वरूप	7
कालिदास का जीवनवृत्त	9
कालिदास का समय	11
कालिदास की कृतियाँ	17
कालिदास की शैली	19
गुण और रीति	19
भाषा	21
काव्य-सौन्दर्य	21
रस	22
अलंकार-निरूपण	22
छन्दोयोजना	24
चरित्र-चित्रण	25
प्रकृति-चित्रण	25
कालिदास का संस्कृत साहित्य में स्थान	26
महाकाव्य का स्वरूप और कुमारसम्भव	27
कुमारसम्भव की कथा का स्रोत	29

पञ्चम सर्ग का कथासार	30
ब्रह्मचारी वेषधारी शिव और पार्वती संवाद	32
पार्वती की तपस्या	37
पार्वती का चरित्र-चित्रण	38
पञ्चम सर्ग 1-86 श्लोक	43-197
श्लोक, अन्वय, सङ्गीविनी टीका, शब्दार्थ, अनुवाद, व्याख्या, आङ्गलानुवाद, व्याकरणात्मक टिप्पणी सहित	
श्लोकानुक्रमणिका	198

भूमिका

काव्य का स्वरूप

काव्य के शरीर का निर्माण शब्द और अर्थ से होता है। ये दोनों एक-दूसरे से अभिन्न हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व सम्भव नहीं है। इसीलिये कविकुलगुरु कालिदास ने रघुवंश के प्रारम्भिक श्लोक में शब्द और अर्थ की एकता को पार्वती-परमेश्वर की एकता का उपमान बनाकर इस अटूट सम्बन्ध को स्थिर किया है—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।

जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥१॥

आचार्यों ने काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मतों का प्रतिपादन किया है। कोई अलंकार को काव्य की आत्मा मानता है, कोई रस को तो कोई रीति को। किसी ने ध्वनि पर बल दिया है। तो किसी ने वक्रोक्ति को ही प्रधानता दी है। इस प्रकार विभिन्न विचारधारा के अनुसार पाँच प्रमुख सम्प्रदाय निम्नलिखित हैं—

1. अलंकार-सम्प्रदाय—भामह और दण्डी अलङ्कार को काव्य का मुख्य गुण मानते हैं। इन आचार्यों ने तो इसे काव्य के लिये अनिवार्य माना है। बिना अलंकार के काव्य, काव्य नहीं कहा जा सकता। भामह कहते हैं—सुन्दर होते हुए भी आभूषणों के बिना वनिता का मुख शोभा नहीं देता—

“न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्” (काव्यादर्श 1.13)

दण्डी ने अलंकारों को शोभा का कारण बताया है—

“काव्यशोभाकरान्धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते” (काव्यादर्श 2.1)

2. रस-सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक भरतमुनि हैं, जो ईसा पूर्व

प्रथम शताब्दी से पूर्व हुए। उनके पश्चात् 9 वीं शताब्दी तक अलंकार-सम्प्रदाय की प्रधानता रही, परन्तु रस का अस्तित्व वे भी स्वीकार करते थे। अन्त में विश्वनाथ ने रस की महत्ता को स्थापित किया-

“वाक्यं रसात्मकं काव्यम्” (साहित्यदर्पण)

3. रीति-सम्प्रदाय-वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है-“रीतिरात्मा काव्यस्य” (काव्यालंकार सूत्र 1.2.6)

श्रेष्ठ पद-रचना रीति कहलाती है। वामन का कथन है कि वर्णन-शैली के कारण काव्य ग्राह्य होता है। काव्यगत सौन्दर्य को वर्णन-शैली कहते हैं। उन्होंने अलंकारों के कारण काव्य की ग्राह्यता बतलाई है, किन्तु उनको सौन्दर्य के व्यापक अर्थ में माना है। रीति का सम्बन्ध गुणों से है और गुणों का सम्बन्ध काव्य की आत्मा (रस) से है। इस प्रकार रस की महत्ता उन्हें भी स्वीकार्य है।

4. ध्वनि-सम्प्रदाय-इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन हैं। वे कहते हैं कि जहाँ पर अभिधा का अर्थ व्यञ्जना से दब जाता है वही रचना ध्वनि कहलाती है।

यत्रार्थः शब्दौ वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।

व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥

(ध्वन्यालोक 1.13)

ध्वनि में व्यञ्जना होने के कारण और व्यंग्यार्थ की प्रधानता होने से एक प्रकार की विलक्षणता रहती है, जिसके कारण काव्य में सौन्दर्य आ जाता है।

5. वक्रोक्ति-सम्प्रदाय-इस सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य कुन्तक अथवा कुन्तल हैं। वे सब प्रकार के चमत्कारों को वक्रोक्ति मानते हुए काव्यान्तर्गत वचनभंगिमा को ही रोचकता का प्रधान कारण मानते हैं-

“वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते” (वक्रोक्तिजीवित 1.11)

इनके अतिरिक्त आचार्य मम्मट ने दोषरहित, गुणयुक्त, सर्वत्र अलंकार से युक्त किन्तु कहीं-कहीं स्फुट अलंकार से रहित भी शब्द और अर्थ को काव्य माना है-

“तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि” (काव्यप्रकाश)

तत्पश्चात् पण्डितराज जगन्नाथ रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं।

“रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्” (रसगङ्गाधर)

काव्य के उपर्युक्त स्वरूप या लक्षणों में से आचार्य मम्मट और विश्वनाथ के लक्षण विशेष प्रामाणिक माने जाते हैं। ये दोनों आचार्य काव्य में ध्वनि का वैशिष्ट्य मानते हैं। उनके अनुसार रस सदा ध्वनित होता है। इसलिये रसात्मक वाक्य भी ध्वन्यात्मक ही होता है।

इस काव्य के दो भेद हैं—

(1) दृश्य काव्य

(2) श्रव्य काव्य

दृश्यकाव्य में नाटक आते हैं क्योंकि इनका अभिनय किया जाता है और ये जनता द्वारा देखे जाते हैं। श्रव्यकाव्यों का अभिनय नहीं होता। वे केवल पढ़े और सुने जाते हैं। श्रव्यकाव्य तीन प्रकार के होते हैं—पद्यकाव्य, गद्यकाव्य तथा चम्पू (जिसमें गद्य-पद्य दोनों का मिश्रण होता है)। पद्यकाव्य के दो उपभेद होते हैं—महाकाव्य और खण्डकाव्य या गीतिकाव्य। गीतिकाव्य के पुनः दो उपभेद होते हैं—प्रबन्धकाव्य और मुक्तक काव्य। इसी प्रकार गद्यकाव्य के भी दो उपभेद हैं—कथा और आख्यायिका। कुमारसम्भव पद्य में है अतः वह पद्यकाव्य की श्रेणी में आता है और वह एक महाकाव्य है।

कालिदास का जीवनवृत्त

महाकवि कालिदास संस्कृत साहित्यकोश के ऐसे चमकते सितारे हैं, जिसकी ज्योति अब भी जगमगाते जन-मन को ज्योतिर्मय बना रही है। भारतीय सौन्दर्यदर्शन की सभी विभूतियाँ इनके साहित्य में समाहित हैं। इतना होने पर भी यह कितने दुःख की बात है कि कालिदास जैसे महान् कवि के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हो सका है क्योंकि उन्होंने अपने ग्रन्थों में कहीं पर भी व्यक्तिगत जीवन के विषय में कोई भी संकेत नहीं किया है। ऐसी अवस्था में महाकवि के जीवनवृत्त को समझने में अन्तः साक्ष्य का पूर्णतया अभाव है। तथापि उनके जीवन के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। इसमें विद्योत्तमा का वृत्तान्त सर्वाधिक प्रचलित है। इसके अनुसार महाकवि कालिदास बाल्यकाल में अत्यन्त

मूर्ख थे। अपने समय की सर्वोत्तम विदुषी और ज्ञानगर्विता विद्योत्तमा नामक राजकुमारी के साथ उनके विवाह का षड्यन्त्र रचा गया। पण्डितों ने मूक शास्त्रार्थ का आयोजन किया जिसमें कालिदास को विजयी घोषित किया। विवाहोपरान्त कालिदास की मूर्खता की वास्तविकता जानकर विद्योत्तमा ने उन्हें तिरस्कृत किया। पत्नी से तिरस्कृत होने पर कालिदास ने काली देवी की उपासना की जिससे उन्हें विद्या का वरदान प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् कालिदास घर लौटे और अपनी पत्नी से “अनावृत्तकपाटं द्वारं देहि” (दरवाजा खोलो) कहा। प्रत्युत्तर में पत्नी ने प्रश्न किया—“अस्ति कश्चिद् वाग्विशेषः” (वाणी में कुछ विशेषता आई है?) कहा जाता है कि कालिदास पत्नी के इस वाक्य से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उपर्युक्त वाक्य के तीन पदों को लेकर तीन अलग-अलग महाकाव्य की रचना कर डाली। यथा—‘अस्ति’ से कुमारसम्भव (अस्त्युत्तरस्यां दिशि०), ‘कश्चित्’ से ‘मेघदूत’ (कश्चित् कान्ताविरहगुरुणा०) और ‘वाग्’ से रघुवंशम् (वागर्थाविव सम्पृक्तौ०)। काली से वरदान प्राप्त होने के कारण ही सम्भवतः उनका नाम कालिदास पड़ा।

दूसरी किंवदन्ती के अनुसार लंका के राजा कुमारदास (500 ई०) से उनका सम्बन्ध था और लंका में ही धन के लोभ में एक वेश्या ने उनकी हत्या करा दी।

तीसरी किंवदन्ती के अनुसार कालिदास धारा के राजा भोज (1005 ई०-1054 ई०) के प्रधान कवि थे। और उनकी मृत्यु धारा नगरी में हुई थी। परन्तु किसी दृढ़ प्रमाण के अभाव में इन किंवदन्तियों में कोई सार प्रतीत नहीं होता।

जन्म स्थान—कालिदास के जन्म स्थान को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वान् इन्हें काली के वर्णन के आधार पर बंगाल का मूल निवासी मानते हैं। श्री वैद्य का विचार है—क्योंकि कालिदास ने हिमालय पर्वत का वर्णन बहुत सुन्दर किया है इसीलिये यह संभव है कि वह हिमालय प्रदेश का ही मूल निवासी था। इसी प्रकार डॉ० लक्ष्मीधर ने हिमालय वर्णन, कश्मीर के स्थानों, कथाओं, दृश्यों और रीति-रिवाजों के वर्णनों के आधार पर उसे कश्मीर का मूल निवासी कहा है। कुछ विद्वान् उसकी वैदर्भी रीति के आधार पर उसे विदर्भ का निवासी मानते हैं। कुछ लोग जनश्रुति के आधार पर लंका के राजा कुमारदास से इसका सम्बन्ध स्थापित करके इसे लंका का निवासी मानते हैं। कुछ दूसरे लोग गुप्तकालीन मगधनरेश विक्रमादित्य का समकालीन मानकर इसे मगध का निवासी मानते हैं।

प्रो० साधुराम ने मेघदूत में क्रौञ्चपर्वत, हंस, मणितर, मानसरोवर की यात्रा, शिव पार्वती की नृत्य परम्परा के अवशिष्ट रूप में मणिपुर नृत्यकला, कामरूप तथा वहाँ के लोक गीत आदि के आधार पर इसे असम का निवासी माना है। परन्तु कालिदास ने मेघदूत में उज्जयिनी का बड़ा सुन्दर एवं मनोरम वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त एक परम्परा के अनुसार भी कालिदास को उज्जयिनी नरेश विक्रमादित्य का समकालीन माना जाता है। इससे ज्ञात होता है कि वे उज्जयिनी के निवासी थे या अधिक समय तक उज्जयिनी में रहे इसीलिये इन्होंने मेघदूत में उज्जयिनी नगरी के सौन्दर्य, शिप्रा नदी और महाकाल के मन्दिर का विशेष भावुकता के साथ वर्णन किया है।

अन्य परिचय—कालिदास के ग्रन्थों के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि वे जन्मना ब्राह्मण थे और शिव भक्त थे। इसके साथ ही अन्य देवों के प्रति भी उनका आदर भाव था। रघुवंश और मेघदूत के वर्णनों से ज्ञात होता है कि उन्होंने भारत की विस्तृत यात्रा की थी, अतएव उनके भौगोलिक वर्णन सत्य, स्वाभाविक और मनोरम हैं। कालिदास का वैदुष्य एवं पाण्डित्य वैदिक-वाङ्मय के सम्यक् ज्ञान पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। काव्यों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि कालिदास अपने जीवन काल में ही प्रतिष्ठित तथा मान्य थे एवम् उनका भौतिक जीवन सुखमय था। उन्हें आर्थिक कष्ट नहीं था, अतः उनके ग्रन्थों में धनहीनता या दारिद्र्य का वर्णन नहीं मिलता है। उनके राजपरिवारों से सम्पर्क था। अतएव उन्हें राजद्वारों और राजकीय जीवन का विस्तृत ज्ञान प्राप्त था। उन्होंने स्त्री-सौन्दर्य का वर्णन किया है, किन्तु वे कामुकता और विषय-वासनामय जीवन को श्रेयस्कर नहीं मानते। वे शारीरिक सौन्दर्य पर आश्रित प्रेम को वास्तविक प्रेम नहीं मानते, अपितु हार्दिक और तपोमूलक प्रेम को ही प्रेम मानते हैं।

उनके ग्रन्थों को देखने से ज्ञात होता है कि उन्होंने वेदों, दर्शनों, उपनिषदों, रामायण, महाभारत, गीता, पुराणों, आयुर्वेद, धनुर्वेद, संगीतशास्त्र, ज्योतिष, व्याकरण, छन्दः शास्त्र और काव्यशास्त्र आदि का गम्भीर अध्ययन किया था।

कालिदास का समय

संस्कृत साहित्य में कालिदास का समय एक समस्या बना हुआ है। भारतीय एवं विदेशी विद्वानों ने इसके सम्बन्ध में विभिन्न विचार प्रस्तुत किये हैं। प्रायः सभी ने अपने-अपने विचारों की पुष्टि में दृढ़ युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। इसलिये

अब तक कोई भी मत अन्तिम एवं सर्वसम्मत रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता।

कालिदास को प्रथम शताब्दी ई० पूर्व से लेकर छठी शताब्दी तक भिन्न-भिन्न विद्वानों ने माना है। अन्तिम सीमा के लिये यह मान्य है कि बाण की कृति हर्षचरित तथा पुलकेशिन् द्वितीय का रविकीर्ति कृत ऐहोल अभिलेख उन्हें निश्चित रूप से सप्तम सदी से पूर्व का घोषित करता है।

दूसरी ओर कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में शुंगवंशीय पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र को नायक बनाया है जिसका समय 150 ई० के लगभग है, अतः कालिदास 150 ई० पूर्व से पहले नहीं माने जा सकते।

छठी शताब्दी ई० का मत

प्रो० फर्गुसन के अनुसार 544 ई० में किसी विक्रमादित्य नामक राजा ने हूणों और शकों को पराजित किया था और इसी विजय के उपलक्ष्य में उसने अपने संवत् को प्राचीन बनाने के लिये इसे 600 वर्ष प्राचीन विक्रम संवत् नाम दिया, जो 57 ई० पूर्व से आरम्भ हुआ। कालिदास इसी विक्रमादित्य के समकालीन थे जिसने संस्कृत को बहुत प्रोत्साहित किया था। प्रो० मैक्समूलर ने संस्कृत पुनरुज्जीवनवाद के इस मत को विशेष महत्व दिया जिसके अनुसार 600 वर्ष तक सोने के बाद ईसा की पांचवी सदी में संस्कृत का पुनरुज्जीवन हुआ।

समीक्षा—(1) प्रो० मैक्समूलर का यह पुनरुज्जीवनवाद और प्रो० फर्गुसन का सिद्धान्त दोनों ही युक्तियुक्त नहीं हैं क्योंकि 57 ई० पूर्व का संवत् 544 ई० से लगभग 1000 वर्ष पूर्व मालत संवत् के नाम से चला आ रहा था—यह तथ्य डॉ० फ्लीट ने अच्छी प्रकार सिद्ध कर दिया है। (2) 473 ई० की मन्दसौर वाली वत्सभट्टि कृत प्रशस्ति में मेघदूत और ऋतुसंहार का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर है। (3) गुप्तकाल में चतुर्थ शताब्दी के आरम्भ में संस्कृत में लिखे गए 'समुद्रगुप्त प्रशस्ति' आदि लेख और इससे पूर्व द्वितीय शताब्दी के 'रुद्रदामन् प्रशस्ति' आदि लेख इस तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं कि संस्कृत 600 वर्षों तक सोई नहीं रही थी अपितु वह पूर्णतः जागृत थी और इसीलिये उसमें प्रशस्ति आदि लिखी जाती थी।

इन कारणों से प्रो० फर्गुसन के मत का खण्डन होता है, अतः प्रो० फर्गुसन का मत सर्वथा लुप्त हो गया है।

चतुर्थ शताब्दी ई० या गुप्तकालीन मत

अनेक पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि भारतीय इतिहास के स्वर्णकाल गुप्त-युग में कालिदास ने जन्म लिया होगा। उनका विश्वास है कि श्री समृद्धि से पूर्ण, धर्म तथा नीति एवं साहित्य तथा कला के विकास के इस पावन युग में ही कालिदास ने भी अपनी कीर्ति कौमुदी का प्रसार किया है। शकों को भारत से निकाल बाहर करने वाले, विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने वाले तथा 'मालव-संवत्' को 'विक्रम संवत्' के नाम से प्रचलित करने वाले द्वितीय गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त (375-413 ई०) को उनका आश्रयदाता माना जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रमाण भी हैं—(1) कुमारसम्भव की रचना सम्भवतः चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त के जन्म के समय हुई होगी। (2) कालिदास ने 'गुप्' धातु का बार-बार प्रयोग किया है। (3) हरिषेण कृत प्रयाग प्रशस्ति में वर्णित समुद्रगुप्त (336-375 ई०) की दिग्विजय को आधार बनाकर रघुवंश में रघु की दिग्विजय का वर्णन किया है। (4) इन्दुमती के स्वयंवर वर्णन में 'चन्द्रमसैव रात्रिः', 'इन्दुं नवोत्थानम्' जैसे अनेक स्थलों में चन्द्रगुप्त के लिये चन्द्र और इन्दु शब्दों का प्रयोग किया गया है। (5) 'मालविकाग्निमित्रम्' नाटक की रचना चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्त और वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय के विवाह के अवसर पर हुई। (6) इसी नाटक में वर्णित अश्वमेध-यज्ञ का आधार समुद्रगुप्त द्वारा किया गया अश्वमेध-यज्ञ है। (7) रघुवंश में राशि-नाम, जामित्र आदि शब्दों का प्रयोग यूनानी प्रभाव के कारण है जिनका सर्वप्रथम प्रयोग आर्यभट्ट (सन् 476 ई०) ने किया है।

समीक्षा—ई० पूर्व शताब्दी में शकों का निहन्ता, उज्जयिनी का सम्राट् और विक्रमादित्य नामक व्यक्ति हुआ था, जिसने शकों पर विजय के उपलक्ष्य में विक्रम संवत् चलाया था। यह ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध है। संवत् जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य उपाधि पर निर्भर न होकर व्यक्तिगत नाम से चलते हैं। इसी समय शकों के उच्छेद के बाद सामाजिक स्थिति सुख-शान्तिमय थी। धर्म-कर्म की सुप्रतिष्ठा हो गई थी, अतः कालिदास को इस आधार पर गुप्तकालीन कहना असंगत है। यह संभव नहीं जान पड़ता कि चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे पराक्रमी राजा ने स्वयं अपना संवत् न चलाकर अपने से पूर्व प्रचलित मालव संवत् को अपने नाम से जारी किया हो। चन्द्रगुप्त द्वितीय के पितामह चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने

राज्याभिषेक के अवसर पर 320 ई० में गुप्त संवत् प्रचारित किया था। क्या उसके पौत्र के लिये यह उचित था कि वह पितामह के संवत् को छोड़कर नया संवत् चलाए और वह भी दूसरे का चुराया हुआ। क्या वह अपने पितामह के प्रति कृतघ्न था कि ऐसा कार्य करे जो पितामह के लिये अनादरसूचक हो। चन्द्रगुप्त द्वारा चलाया गया तथाकथित विक्रम संवत् इसके बाद की शताब्दियों में कहीं भी उल्लिखित नहीं है। दूसरे, स्कन्दगुप्त के गिरनार वाले शिलालेख में गुप्त संवत् का ही उल्लेख है विक्रम संवत् का नहीं (गुप्तकाले गणनां विधाय)। विक्रम संवत् का सर्वप्रथम उल्लेख नवीं शताब्दी में मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय किसी भी अवस्था में विक्रम संवत् का प्रवर्तक नहीं है। इस कारण कालिदास के स्थितिकाल के गुप्तकालीन मत का मौलिक आधार ही अप्रमाणित हो जाता है। (1) पुत्र अर्थ में कुमार शब्द का प्रयोग सभी काव्यों और नाटकों में मिलता है। इसके साथ ही शिव के पुत्र स्कन्द के लिये 'कुमार' शब्द अत्यन्त प्रचलित है जिसका प्रयोग कुमारसम्भव में हुआ है। (2) 'गुप्' धातु का सामान्य अर्थ रक्षा है। इसी अर्थ में रघुवंश में गुप् धातु के साथ रक्ष, पा और त्रै धातुओं के भी प्रयोग हैं। (3) रघु की दिग्विजय का आधार वस्तुतः वाल्मीकि-रामायण, महाभारत और पुराणों में वर्णित दिग्विजय है। (4) सभी काव्यों और नाटकों में चन्द्र शब्द का प्रयोग सामान्यरूप से मिलता है। जिसके आधार पर चन्द्रगुप्त अर्थ निकालना असंगत है। (5) मालविकाग्निमित्र की रचना सिद्ध करती है कि कालिदास का समय शुंगवंशीय राजा अग्निमित्र (150 ई० पूर्व के लगभग) के समीप है जिसके आधार पर कालिदास का समय ई० पूर्व प्रथम शताब्दी सिद्ध होता है। (6) पतञ्जलि के महाभाष्य से सिद्ध होता है कि पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया था, अतः यह युक्ति असार प्रतीत होती है। (7) वस्तुतः ज्योतिष के शब्दों के लिये यूनानी भारत के ऋणी हैं, न कि भारत यूनान का। इसके अतिरिक्त बौधायन गृह्यसूत्र (500 ई० पूर्व) में मीन, मेष, वृष आदि राशियों का उल्लेख है। जामित्र शब्द शुद्ध भारतीय शब्द है। यह जन्मपत्री में लगन में सप्तम स्थान को सूचित करता है। इसमें कन्या के सौभाग्य, सुरक्षा आदि का विचार होता है। जामित्र की व्युत्पत्ति है—'जामिं स्त्रियं त्रायते इति जामित्रम्।'।

अतः इन युक्तियों के आधार पर कालिदास को गुप्तकालीन नहीं कहा जा सकता है।

द्वितीय शताब्दी ई० पूर्व का मत

डॉ० कुन्हन राजा कालिदास की स्थिति ई० पूर्व द्वितीय शती में मानते हैं। वे कहते हैं कि कालिदास शुंगवंशीय राजा अग्निमित्र के समकालीन थे और मालविकाग्निमित्र नाटक के भरतवाक्य में उन्होंने अग्निमित्र का उल्लेख भी किया है। डॉ० राजा ने अग्निमित्र की राजधानी विदिशा बताई है, जिसका उल्लेख कालिदास ने मेघदूत में किया है।

किन्तु यह मत ठीक नहीं है क्योंकि मालविकाग्निमित्र के भरतवाक्य में अग्निमित्र का उल्लेख तो अवश्य है परन्तु वह कालिदास का समकालीन रहा हो, ऐसा कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। इसके विपरीत इतिहास तो यह बताता है कि अग्निमित्र ने मगध में राज्य किया था, विदिशा उसकी राजधानी नहीं थी। यदि उसे अग्निमित्र का समसामयिक मानें तो उन सभी जनश्रुतियों का क्या होगा, जो कालिदास को विक्रमादित्य का समकालीन कहती आ रही हैं। वास्तविकता तो यह है कि कालिदास ने अपने पूर्ववर्ती राजा अग्निमित्र के जीवन को अपने नाटक में चित्रित किया होगा।

प्रथम शताब्दी ई० पूर्व का मत

भारतवर्ष की लोक-परम्परा में कालिदास को विक्रमादित्य का आश्रित कवि माना जाता है। परमारवंश के आभूषण, महेन्द्रादित्य के पुत्र, प्रसिद्ध शैव और उज्जैन के प्रसिद्ध राजा यह विक्रमादित्य भारत के जन-जन में प्रचलित अनेक लोककथाओं में प्रसिद्ध नायक हैं। (1) कालिदास ने स्थान-स्थान पर विक्रम शब्द का उल्लेख किया है। इससे यह सुनिश्चित हो जाता है कि वे विक्रम के समय में हुए थे। (2) गुप्तकाल तथा उसके पश्चात् भी जितने विक्रम उपाधिधारी राजा हुए उनमें से यह किसी का नाम नहीं था, केवल उपाधि थी। (3) विन्सेण्ट स्मिथ तथा एडजर्टन ने विक्रमादित्य की प्रथम शती ई० की ऐतिहासिकता स्वीकार की है और इसी आधार पर उन्होंने कालिदास का समय ईसा पूर्व प्रथम शती ही निर्धारित किया है।

समीक्षा—यह विक्रमादित्य वस्तुतः उज्जैन का वह शासक था, जो सोमदेव कृत कथासरित्सागर की अनेक कथाओं का नायक है। इसकी पुष्टि में हाल कृत गाथासप्तशती का एक श्लोक द्रष्टव्य है—

संवाहनसुखरसतोषितेन ददता तव करे लक्षम्।

चरणेन विक्रमादित्यचरित्रमनुशिक्षितम् तस्याः॥

विन्सेण्ट स्मिथ ने 'हाल' का समय 68 ई० माना है जिसके उपर्युक्त श्लोक से यह सिद्ध होता है कि विक्रमादित्य उसके समय तक अपने दान के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध हो चुका था। प्रथम शती ई० के कवि के लिये नाटक रूप में प्रयोज्य विक्रमादित्य अवश्य ही उक्त समय से कम से कम एक शती पूर्व अर्थात् ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में हुआ होगा, यह सिद्ध हो जाता है। (1) कालिदास ने अपने आश्रयदाता को अमर बनाने के लिये ही उसके नाम पर 'विक्रमोर्वशीय' नाटक की रचना की। (2) ई० पूर्व शताब्दी में हुए राजा का नाम ही विक्रमादित्य था। उसके पिता का नाम महेन्द्रादित्य था। उसके आदर्श चरित के कारण चन्द्रगुप्त द्वितीय आदि ने विक्रमादित्य उपाधि धारण की। इस तथ्य का समर्थन इस बात से भी होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र कुमारगुप्त ने अपना महत्व अधिक सिद्ध करने के लिये विक्रमादित्य के पिता 'महेन्द्रगुप्त' का नाम उपाधि रूप में ग्रहण किया। दूसरे रघुवंश में भी कालिदास ने सूर्यवंशी राजाओं को अपना चरितनायक शायद इसीलिये बनाया कि महेन्द्रादित्य और विक्रमादित्य भी सूर्यवंशी थे। साथ ही रघुवंश के दिलीप और रघु के वर्णन में तथा कथासरित्सागर के महेन्द्रादित्य और विक्रमादित्य के वर्णन में पर्याप्त समय है। (3) मेघदूत के 30 वें पद्य में वत्सराज उदयन के विषय में उज्जैन में प्रचलित लोकश्रुति के प्रति जो ऐतिहासिक संकेत किया गया है, उससे तथा मालविकाग्निमित्र के भीतरी प्रमाणों से भी यही पुष्टि होती है कि कालिदास का स्थितिकाल प्रथम शताब्दी ई० पूर्व में उज्जैन के परमारवंशीय सम्राट् विक्रमादित्य के राज्यकाल में रहा होगा।

कालिदास की शैली से ज्ञात होता है कि उसके समय में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। कालिदास ने परशुराम को ऋषि माना है, अवतार नहीं। इसवीय सन् में ही परशुराम को अवतार मानने की कल्पना हुई है। (4) कालिदास के ग्रन्थों और अश्वघोष (78 ई० के लगभग) के ग्रन्थों में कई स्थानों पर पर्याप्त साम्य हैं जैसे-कुमारसम्भव में रति-विलाप और सौन्दरनन्द में सुन्दरी विलाप, रघुवंश में अज-विलाप और सौन्दरनन्द में नन्द-विलाप। अश्वघोष मुख्यतः दार्शनिक है और कालिदास मुख्यतः महाकवि। अतः अश्वघोष पर कालिदास का प्रभाव स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है। यह सिद्ध करता है कि कालिदास अश्वघोष

से कम से कम एक शती पूर्व ईसा पूर्व प्रथम शती में हुए हैं। (5) सम्भवतः ई० सन् से 58 वर्ष पूर्व के निकट शकों को शकारि विक्रमादित्य ने हराया हो और इसी महत्वपूर्ण घटना की मधुर स्मृति में उसने अपना संवत् चलाया हो।

प्रयाग के समीप भीम ग्राम में एक मुद्रा प्राप्त हुई है जिसका समय ईसा पूर्व प्रथम शती माना जाता है। इस मुद्रा पर वृक्षों को सींचती हुई दो कन्याओं तथा एक मृग का पीछा करते हुए एक राजा का चित्र अंकित किया गया है। विद्वानों का यह निश्चित मत है कि यह चित्र कालिदास के सुप्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' के प्रथम अंक का है। इसलिये यह नाटक इससे (प्रथम शती ई०) पूर्व अवश्य लिखा गया होगा।

निष्कर्षतः महाकवि कालिदास को ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से सम्बद्ध करना उचित जान पड़ता है।

कालिदास की कृतियाँ

कालिदास की कृतियों के सम्बन्ध में 41 तक की संख्या दी जाती है। इसका संभाव्य कारण उनकी प्रसिद्धि तथा कृतियों का जनमानस पर अपूर्व प्रभाव है जिसके फलस्वरूप परवर्ती कालिदास उपनाम वाले कवियों ने अपनी रचनाओं को इस श्रेणी में सम्मिलित कर दिया। वस्तुतः सर्वमान्य मत के अनुसार कालिदास की सात रचनाएँ मानी गई हैं—नाटक (1) अभिज्ञानशाकुन्तलम् (2) विक्रमोर्वशीयम् (3) मालविकाग्निमित्रम्; काव्य-ग्रन्थ (4) रघुवंशम् (5) कुमारसम्भवम्; गीतिकाव्य (6) मेघदूतम् (7) ऋतुसंहारम्। कालक्रम की दृष्टि से ऋतुसंहारम् को कालिदास की प्रथम और अभिज्ञानशाकुन्तलम् को अन्तिम कृति माना गया है।

ऋतुसंहारम्—यह महाकवि कालिदास की प्रथम रचना है इसमें छह सर्ग और 144 श्लोक हैं जिसमें छहों ऋतुओं यथा ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर एवं वसन्त का क्रमशः सरल, सुन्दर और मनोहारी चित्रण प्रस्तुत किया गया है। यह गीतात्मकता से युक्त काव्य स्वयं में चिरनवीनता के लिये प्रकृति के पक्षों को उजागर करता है।

मेघदूतम्—यह गीतिकाव्य प्रौढ़ कल्पना, परिष्कृत शैली एवं कोमलकान्तपदावली से संयुक्त काव्य है। इसमें कुबेर से शापित वियोगी यक्ष का अपनी विरहिणी पत्नी को आषाढ़ के उमड़ते-धुमड़ते हुए बादल के द्वारा सन्देश भेजने का मार्मिक वर्णन है। इसके दो भाग हैं—

पूर्वमेघ-इसमें यक्ष ने रामगिरि से लेकर अलका नगरी तक का मार्ग विस्तार से बतलाया है।

उत्तरमेघ-इसमें यक्ष ने बादल से अपने भवन एवं अपनी पत्नी का विस्तृत वर्णन किया है। इसके साथ ही यक्ष ने अपनी पत्नी के लिये जो सन्देश बादल के माध्यम से भेजा है-उसका भी विशद वर्णन है।

मालविकाग्निमित्रम्-नाट्य लेखन की दृष्टि से यह कालिदास की प्रथम रचना है। इसमें पाँच अंक हैं जिसमें विदिशा के राजा अग्निमित्र तथा मालव देश की राजकुमारी मालविका की प्रेम गाथा के उपरान्त उनके विवाह का वर्णन है।

विक्रमोर्वशीयम्-यह पाँच अंकों का त्रोटक नामक उपरूपक है। इसमें राजा पुरुरवा (विक्रम) तथा उर्वशी नामक अप्सरा की प्रणय-कथा वर्णित है। यद्यपि यह कथा ऋग्वेद, यजुर्वेद, शतपथ ब्राह्मण, विष्णुपुराण, मत्स्यपुराण, महाभारत आदि में उपलब्ध होती है, तथापि महाकवि ने इस वैदिक-आख्यान में नवीन तथ्यों को समाहित कर पूर्णतः नवीनता उत्पन्न की है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम्-कवि की यह विख्यात कृति विश्व के सर्वोत्कृष्ट साहित्यों में विशिष्ट स्थान रखती है। इसका कथानक महाभारत के आदि पर्व में वर्णित शकुन्तलोपाख्यान पर आधारित है, जिसमें महाकवि ने अनेकानेक परिवर्तन करके इसे पूर्ण रूप से मौलिक रूप प्रदान किया है। इसमें सात अंक हैं जिसमें दुष्यन्त तथा शकुन्तला के प्रेम, वियोग तथा पुनर्मिलन का वर्णन है।

कुमारसम्भवम्-यह सत्रह सर्गों का एक महाकाव्य है जिसमें हिमालय की पुत्री पार्वती द्वारा घोर तपस्या के फलस्वरूप वर रूप में शिव को प्राप्त करने, शिव-पार्वती का विवाह, कुमार कार्तिकेय का जन्म तथा कुमार द्वारा तारकासुर के वध की कथा है। कालिदास ने इसमें तपोमूलक परिष्कृत प्रेम का सम्यक् प्रतिपादन किया है।

रघुवंशम्-यह कालिदास के वैदुष्य एवं पाण्डित्य का काव्य रूप में सर्वोत्तम निदर्शन है। इसके वैशिष्ट्य के कारण ही इन्हें रघुकार कालिदास कहा गया तथा कवियों एवं आलोचकों ने 'क इह रघुकारे न रमते' माना है। इसमें उन्नीस सर्ग हैं जिसमें मनु से अग्निवर्ण तक इकतीस सूर्यवंशीय राजाओं का वर्णन प्राप्त होता है उसमें भी विशेष रूप से दिलीप, रघु, अज, दशरथ और राम का विस्तृत वर्णन है।

कालिदास की शैली

गुण और रीति

महाकवि कालिदास के अत्यधिक लोकप्रिय होने का मुख्य कारण उनकी प्रसादगुण समन्वित एवं लालित्यपूर्ण तथा परिष्कृत शैली ही है। ये सभी गुण वैदर्भी रीति में विद्यमान हैं। कालिदास इस रीति के सर्वश्रेष्ठ कलाकार माने गए हैं—

“वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते”

जिस प्रकार अग्नि सूखी लकड़ी में अतिशीघ्र ही व्याप्त होकर फैल जाती है, उसी प्रकार जो गुण सहृदय व्यक्तियों के मानस—पटल को तुरन्त ही व्याप्त कर लेता है वही ‘प्रसाद गुण’ विशिष्ट कविता सरल, सरस एवं बोधगम्य होती है। लक्षण ग्रन्थों में इस गुण के विषय में कहा गया है—

चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः।

स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च॥

(साहित्यदर्पण)

कालिदास को इस प्रसाद गुण युक्त शैली ने ही विश्व के मूर्धन्य कवियों में स्थान प्राप्त कराया है। इस गुण से युक्त वैदर्भी रीति का लक्षण आचार्यों ने इस प्रकार किया है—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका।

अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते॥

(साहित्यदर्पण)

अर्थात् मधुर शब्द, ललित पदविन्यास, समासों का पूर्णतया अभाव अथवा अल्प समास युक्त पदों का होना ही वैदर्भी रीति की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

सुकुमार तथा कोमल भावों का चित्रण करने में महाकवि कालिदास अद्वितीय हैं। इसी कारण प्रसन्नराघवकार जयदेव ने उनको “कविता कामिनी का विलास” कहा है। उनकी शैली की सर्वश्रेष्ठ विशेषता यह है कि वे किसी भाव का चित्रण करते समय उसका स्पष्ट शब्दों में विस्तृत वर्णन करने की अपेक्षा व्यञ्जना वृत्ति का आश्रय लेकर उसकी ओर सूक्ष्म संकेत कर देना मात्र ही उचित और आवश्यक समझते हैं। तात्पर्य यह है कि उनकी शैली सूक्ष्म तथा ध्वन्यात्मक अथवा संकेतात्मक ही है। इसी कारण उनकी रचनाओं में संकेतात्मकता अथवा ध्वन्यात्मकता का

रसः-उनकी कला रसवादी है। वे शृंगार रस के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। इनकी अधिकांश रचनाएँ शृंगार रस से ओत-प्रोत हैं। शृंगार के दोनो-संभोग और विप्रलम्भ-पक्षों का सुन्दर विश्लेषण इनकी कृतियों में हुआ है। इनके तीनों नाटक शृंगार के विविध पक्षों के उत्तम उदाहरण हैं।

कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग में शंकर-पार्वती के संयोग शृंगार का अनुपम वर्णन उपलब्ध होता है। इसीलिए सम्भवतः एक परम्परा कुमारसम्भव के प्रथम 8 सर्गों को ही कालिदास-कृत मानती है।

वस्तुतः वे कोमल रसों के सफल चित्रकार हैं। गम्भीर रसों के प्रति उनकी रुचि स्वल्पमात्रा में ही दृष्टिगोचर होती है। कुमारसम्भव के चतुर्थ सर्ग में रति-विलाप के वर्णन में करुण रस के अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं। कामदेव के भस्म हो जाने के पश्चात् रति की दशा का वर्णन द्रष्टव्य है-

गत एव न ते निवर्तते स सखा दीप इवानिलाहतः।

अहमस्य दशेव पश्य मामविसह्यव्यसनेन धमिताम्॥

(कुमार. 4.30)

अर्थात् हे वसन्त! पवन के झोंके से बुझाए गए दीपक के समान तुम्हारा मित्र कामदेव चला गया। अब वह लौटकर नहीं आता है और मैं उस बुझे हुए दीपक की धुंधलाती हुई बत्ती के समान असह्य दुःख एवं वेदना से अत्यन्त व्याकुल हूँ।

इनका हास्य भी गम्भीर ही होता है। इनके हास्य चित्रण में केवल मुस्कराना ही आता है, अट्टहास नहीं। यथा-ब्रह्मचारी पार्वती से कहता है कि जब तुम शिवजी के बूढ़े बैल पर चढ़कर ले जाई जाओगी तब इससे तुम्हारी और भी हँसी होगी-

इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना

यद्वृद्धया वारणराजहार्यया।

विलोक्य वृद्धोक्षमधिष्ठितं त्वया

महाजनः स्मेरमुखो भविष्यति॥

अलंकार-निरूपणः-महाकवि कालिदास की रचनाओं में अलंकार का निरूपण सहज एवं स्वाभाविक रूप में प्रकट होता है। उपमा, अर्थान्तरन्यास, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, रूपक, विरोधाभास और यमक आदि के मनोरम प्रयोग इनकी रचनाओं में पद-पद पर उपलब्ध होते हैं।

अलंकारों के प्रयोग में कवि ने अपनी सूक्ष्म मर्मज्ञता का परिचय दिया है। उनकी कविता अत्यधिक और अनावश्यक अलंकारों के भार से आक्रान्त कामिनी की भाँति मन्द-मन्थर गति से चलने वाली नहीं है, अपितु स्फुट चन्द्रतारका विभावरी की भाँति अपने सहज सौन्दर्य से सहृदयों के चित्त को आकृष्ट करने वाली है। उनके अनुप्रास उनकी काव्यधारा में सर्वत्र अनायास ही आ गए हैं।
यथा -

अथानुरूपाभिनिवेशतोषिणा

कृताभ्यनुज्ञा गुरुणा गरीयसा।

प्रजासु पश्चात्प्रथितं तदाख्यया

जगाम गौरी शिखरं शिखण्डिमत्॥

कुमार. 5.7

उन्होंने शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों पर अधिक ध्यान दिया है। स्वभावोक्ति में वे सिद्धहस्त हैं। उनके शाब्दिक चित्र सजीव एवं स्वाभाविक हैं।

यथा-

यदा बुधैः सर्वगतस्त्वमुच्यसे,

न वेत्सि भावस्थमिमं कथं जनम्।

इति स्वहस्तोल्लिखितश्च मुग्धया,

रहस्युपालभ्यत चन्द्रशेखरः॥

उपमा कालिदासस्य:-उपमा कालिदास का अत्यन्त प्रिय अलंकार है। इस प्रियता ने उन्हें 'उपमा कालिदासस्य' की पदवी से विभूषित किया है। कालिदास की उपमा भाव को अत्यन्त प्रभावी रूप में प्रकट करती है तथा इसकी रसात्मकता मर्म को स्पर्श करती है। उनकी उपमाएँ एकांगी न होकर सर्वांगीण और व्यापक हैं। उनका उपमा प्रयोग का वैशिष्ट्य इसी से ज्ञात होता है कि रघुवंश में इन्दुमती के स्वयंवर के प्रसंग में जब स्वयंवर में उपस्थित राजाओं को छोड़कर इन्दुमती आगे बढ़ती है, तो वे उसी प्रकार विवर्ण तथा विषाद को प्राप्त करते हैं, जैसे संचारिणी दीपशिखा के आगे निकल जाने पर पूर्ववर्ती राजप्रासाद अन्धकारावृत हो जाता है। केवल इस एक सुन्दर उपमा से महाकवि को 'दीपशिखा कालिदास' के नाम से सम्बोधित किया गया है -

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ

यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।

नरेन्द्रमार्गादट इव प्रपेदे

विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥

रघु. 6.67

ब्रह्मचारी पार्वती से कहता है कि तेजहीन चन्द्रमा की रेखा के समान तपस्या के कष्ट से अत्यन्त दुबली एवं सूर्य के तीव्र ताप से दग्ध भूषण स्थानों वाली तुम्हें देखकर किस सहृदय पुरुष का हृदय द्रवित नहीं होता -

मुनिव्रतैस्त्वामतिमात्रकर्षितां,

दिवाकराप्लुष्टविभूषणास्पदाम् ।

शशाङ्कलेखामिव पश्यतो दिवा,

सचेतसः कस्य मनो न दूयते ॥

कुमार. 5.48

अर्थान्तरन्यासः-अर्थान्तरन्यास में कवि का व्यावहारिक ज्ञान उच्च रूप में प्रकट हुआ है। कुछ विद्वानों का मत है कि कालिदास उपमाओं के प्रयोग में उतने सुन्दर नहीं हैं जितना कि अर्थान्तरन्यास के प्रयोग में। उनके अर्थान्तरन्यास सुभाषित के रूप में प्रचलित हो गए हैं। किसी कवि का कथन है कि -

उपमा कालिदासस्य नोत्कृष्टेति मतं मम ।

अर्थान्तरन्यासविन्यासे कालिदासो विशिष्यते ॥

अर्थान्तरन्यास का प्रयोग कालिदास ने लगभग सभी ग्रन्थों में किया है, किन्तु रघुवंश व कुमारसम्भव में उसकी अधिकता है। यथा-

अपि क्रियार्थं सुलभं समित्कुशं,

जलान्यपि स्नानविधिदक्षमाणि ते ।

अपि स्वशक्त्या तपसि प्रवर्तसे,

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ॥

कुमार. 5.33

छन्दोयोजनाः-कुमारसम्भव में कवि ने विविध छन्दों का प्रयोग किया है जिससे उनके प्रौढ़ पाण्डित्य तथा काव्याभास का चिर अनुभव प्रकट होता है।

इसमें अनुष्टुप्, उपजाति, मालिनी, वंशस्थ, वियोगिनी, पुष्पिताग्रा, वसन्ततिलका, हरिणी, रथोद्धता, मन्दाक्रान्ता, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, शार्दूलविक्रीडित आदि छन्दों की छय है।

चरित्र-चित्रण:—कालिदास चरित्र-चित्रण में भी अद्वितीय हैं। 'दीपशिखा' इन्दुमती, 'कुशाङ्गयष्टि' सीता, 'सन्नतगात्री' पार्वती, 'तन्वी श्यामा' यक्षपत्नी, 'मनोज्ञा' 'वल्कलेनापि तन्वी' शकुन्तला के जीते-जागते चित्र हमारे सामने उपस्थित हो जाते हैं।

कालिदास अपने प्रिय पात्रों को असाधारण या जनसाधारण से विपरीत प्रकृति का बताना चाहते हैं। सम्भवतः उनकी दृष्टि में चरित्र-माहात्म्य का यह एक श्रेष्ठतम मानदण्ड है।

प्रकृति-चित्रण:—इनकी दृष्टि अत्यन्त ही सूक्ष्म है। इन्होंने मानव-प्रकृति तथा बाह्य प्रकृति का सूक्ष्म विश्लेषण अपने ग्रन्थों में किया है। प्रकृति से उनका अटूट अनुराग है। वे अपने प्रकृति प्रेम के लिए प्रसिद्ध हैं। वे प्रकृति के कोमल स्वरूप के उपासक हैं। उन्होंने प्रकृति के आलम्बन तथा उद्दीपन दोनों ही रूपों का चित्रण किया है। कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग तथा रघुवंश के द्वितीय सर्ग का हिमालय-वर्णन प्रकृति के आलम्बन रूप में अंकित है। इन वर्णनों में प्रकृति का स्वाभाविक सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है।

कालिदास ने उद्दीपन रूप में प्रकृति का वर्णन करते हुए उसे अधिक संवेदनशील बना दिया है। ऐसे स्थानों पर उन्होंने उत्प्रेक्षा अथवा समासोक्ति द्वारा जड़ पदार्थों में मानवीय भावनाओं तथा कार्यों का आरोपण किया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा तथा समासोक्ति अलंकार प्रकृति के मनोहर रूपों को अधिक संवेदनपूर्ण बना देते हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है —

शिलाशयां तामनिकेतवासिनीं,

निरन्तरास्वन्तरवातवृष्टिषु।

व्यलोकयन्नुन्मिषितैस्तडिन्मयै-

महातपः साक्ष्य इव स्थिताः क्षपाः॥

कुमार. 5.25

वर्षाकालीन रात्रि का समय है, वर्षा निरन्तर हो रही है, वायु के झोंके तीव्र

गति से चल रहे हैं, विद्युत चमक रही है, चारों तरफ से खुले एक शिलाखण्ड पर बैठी हुई पार्वती समाधिगमन है। ऐसे समय पर जबकि वहाँ पार्वती की तपस्या को देखने वाला कोई भी नहीं है, कवि कल्पना करते हैं कि ऐसे समय पर रात्रि ही अपने विद्युत् रूपी चक्षुओं से साक्षी की भाँति पार्वती को देख रही थी।

इस स्थल पर कालिदास द्वारा की गई जड़ प्रकृति में चेतना की सौन्दर्यमयी प्राणप्रतिष्ठा का स्पष्ट दर्शन होता है।

इनका मेघदूत काव्य तो प्रकृति-चित्रण का सर्वोत्तम ग्रन्थ है। इसके प्रत्येक श्लोक में प्रकृति की आशा भरी आत्मा की वेदना का चित्रण है, जिसके अन्तर्गत संयत, गम्भीर एवं प्रशान्त व्याकुलता का स्पष्ट दर्शन पाठक को होता है।

कालिदास का संस्कृत साहित्य में स्थान

महाकवि कालिदास संस्कृत साहित्य के सर्वोपरि कलाकार तो हैं ही, यदि उन्हें विश्व-साहित्य का सर्वोत्कृष्ट कलाकार भी कह दिया जाये तो अतिशयोक्ति न होगी। उनकी समानता अंग्रेजी साहित्य के महान् कलाकार शेक्सपीयर से की जाती है, किन्तु शेक्सपीयर ने उत्तमोत्तम नाटक अवश्य लिखे हैं, परन्तु उन्होंने किसी महाकाव्य की रचना नहीं की है। कालिदास तो नाटककार होने के अतिरिक्त रघुवंश एवं कुमारसम्भव जैसे महाकाव्यों के भी रचयिता हैं। अतः ये शेक्सपीयर से बढ़कर कवि एवं कलाकार हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

अपने गुणों के कारण कालिदास की कविता विश्ववन्द्या हो गई है। कालिदास के विषय में किसी आलोचक का कहना है—

पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासाः।

अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थव्रती बभूव॥

प्राचीन काल में कवियों की गणना का प्रसङ्ग आने पर कालिदास का नाम सर्वप्रथम कनिष्ठिका अङ्गुली पर रखा गया। किन्तु कालिदास की बराबरी करने वाले अन्य किसी कवि के न होने से दूसरी अङ्गुली पर किसी का नाम पड़ा ही नहीं। इसलिए उसका नाम अनामिका पड़ा। आज भी कालिदास के समान किसी अन्य कवि के न होने के कारण उस अङ्गुली का नाम 'अनामिका' सर्वथा सार्थक हो रहा है।

कादम्बरी के रचयिता बाणभट्ट का कहना है—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥

हर्ष० 16

अर्थात् कालिदास की आम्रमञ्जरी के समान सरस एवं मधुर सूक्तियों को सुनकर किसके हृदय में आनन्द का उद्रेक नहीं होता।

सोड्डल ने कालिदास की प्रशंसा इस प्रकार की है—

ख्यातः कृती सोऽपि च कालिदासः

शुद्धा सुधास्वादुमती च यस्य।

वाणीमिषाच्चण्डमरीचि—

गोत्रसिन्धोः परं पारमवाप कीर्तिः॥

अर्थात् धन्य हैं वे कवि कालिदास जिनकी कीर्ति उनकी कविता के समान ही निर्दोष, अमृततुल्य एवं मधुर है। जिस प्रकार उनकी वाणी सूर्यवंश का पूरा वर्णन कर सकी है, वैसे ही उनकी कीर्ति भी समुद्र के पार पहुँची है।

टीकाकार मल्लिनाथ ने तो कालिदास की कला के विषय में यहाँ तक लिखा है कि—

कालिदासगिरां सारं कालिदाससरस्वती।

चतुर्मुखोऽथवा ब्रह्मा विदुर्नान्ये तु मादृशाः॥

अर्थात् कालिदास की वाणी के सार को आज तक केवल तीन व्यक्तियों ने ही समझा है, एक तो ब्रह्मा, दूसरी सरस्वती और तीसरे कालिदास स्वयं। मेरे समान पुरुष तो उनको ठीक-ठीक समझने में सर्वथा असमर्थ हैं।

महाकाव्य का स्वरूप और कुमारसम्भव

महाकाव्य शब्द 'महत्' और 'काव्य' दो शब्दों के समास से बना है। महाकाव्य नाम से इस कोटि के ग्रन्थ के बड़े आकार-प्रकार की तथा साथ ही इसके अतिशय काव्य-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, पर नाममात्र से ही महाकाव्य के स्वरूप का पूर्ण परिचय प्राप्त नहीं हो पाता। इसके स्वरूप का परिचय तो इसकी परिभाषा या लक्षणों से मिलता है। भामह आदि अनेक आचार्यों ने इसके लक्षण लिखे हैं, जिसमें से दण्डी ने 'काव्यादर्श' में तथा विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में महाकाव्य के निम्नलिखित लक्षण बतलाए हैं—

1. महाकाव्य की कथावस्तु किसी प्राचीन आख्यान या ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर होनी चाहिए।
2. इसका नाटक धीरोदात्त प्रकृति का होना चाहिए। धीरोदात्त नायक के निम्नलिखित गुण हैं।

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।

स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढव्रतः॥

दशरूपक 2.4-5

अर्थात् महाबली, अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, स्वयं अपनी प्रशंसा न करने वाला, स्थिर प्रकृति, अहंकारहीन तथा दृढ़ निश्चय वाले व्यक्ति को धीरोदात्त नायक कहते हैं।

3. महाकाव्य में शृंगार, वीर या शान्त रस प्रधान रहता है और अन्य रस गौण रूप में रहते हैं।
4. इसमें नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, सूर्योदय, चन्द्रोदय, प्रातःकाल, दिन, रात्रि, जलक्रीड़ा, उद्यान, विहार, जंगल, आखेट, युद्ध, विजय-प्राप्ति, विवाह, पुत्रोत्पत्ति, नायक-नायिका का संयोग-वियोग आदि विषयों का उपयुक्त स्थलों पर वर्णन होना आवश्यक है।
5. सम्पूर्ण महाकाव्य कई सर्गों में विभक्त होना चाहिए। प्रत्येक सर्ग न तो बहुत छोटे हों और न बहुत लम्बे। प्रत्येक सर्ग में एक ही वृत्त के श्लोक रहते हैं, किन्तु सर्ग के अन्त में भिन्न वृत्त तथा आगामी कथा का संकेत होना चाहिए। कभी-कभी प्रत्येक सर्ग के वृत्त भिन्न-भिन्न भी होते हैं। महाकाव्य में 8 से कम सर्ग नहीं होने चाहिए।
6. इसके प्रारम्भ में मंगलाचरण का आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक अथवा वस्तुनिर्देशात्मक श्लोक होना चाहिए। यथा-

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।

सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः॥

एकवंशभवाभूपाः कुलजा बहवोऽपि वा।

शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गीरस इष्यते॥

अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्ध्यः।

इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद् वा सज्जनाश्रयम्॥

चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ।
 आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ॥
 क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ।
 एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ॥
 नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ।
 नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ॥
 सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ।
 सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ॥
 प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ।
 सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ॥
 रणप्रयाणोपमयमन्त्रपुत्रोदयादयः ।
 वर्णनीया यथायोगं सांगोपांगा अमी इह ॥
 कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ।
 नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु ॥

उपर्युक्त लक्षणों पर दृष्टिपात करते हुए जब कालिदास के कुमारसम्भव पर दृष्टि डालते हैं तो उसमें यह लक्षण प्रायः पूर्णतः मिलते हैं। जैसे—यह सत्रह सर्गों में विभक्त है, आलोचकों ने तो 8 सर्ग ही महाकवि प्रणीत स्वीकार किये हैं, अतः यदि 8 सर्ग ही प्रमाणित माने जाएँ तब भी लक्षणों की दृष्टि से ठीक ही है। इसका नायक धीरोदात्त है तथा वह धीरोदात्त नायक के सभी गुणों से युक्त एक दिव्य पुरुष है। इसका प्रधान रस शृंगार है तथा करुण और शान्त उसके सहायक रस हैं। इसकी कथावस्तु पुराणों से ली गई होने के कारण ऐतिहासिक है। इसमें प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द है और सर्ग के अन्त में वह बदल जाता है। इसमें ऋतुओं तथा प्राकृतिक सौन्दर्यों का सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है। इसमें पार्वती तथा शिव के विवाह का वर्णन तथा कुमार अर्थात् कार्तिकेय के जन्म का वर्णन किया गया है। कुमार के जन्म की घटना पर आधारित इस ग्रन्थ का नाम 'कुमारसम्भव' (कुमारस्य सम्भवं जन्म यस्मिन् काव्ये तत्तु कुमारसम्भवम्) भी उचित ही है।

कुमारसम्भव की कथा का स्रोतः—इस महाकाव्य के स्रोत के सम्बन्ध में डॉ० ए० बी० कीथ ने यह स्वीकार किया है कि इसका मूल स्रोत "बाल्मीकि

रामायण" है। रामायण के किष्किन्धा वन के वर्णन में वसन्त के सौन्दर्य का समुज्ज्वल चित्र उपलब्ध होता है। जिससे प्रभावित विरही राम के मन का शोक कई गुना बढ़ जाता है। अतः महाकवि कालिदास पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। रति की निराशापूर्ण अवस्था के समान ही बालि की स्त्री तारा का निराशा भरा विलाप भी उपलब्ध होता है। तारकासुर के वध का संकेत भी रावणवध से प्राप्त हो जाता है। विवाह के पश्चात् शिव अङ्गदेश में तपस्या कर रहे थे। कामदेव ने वहाँ पहुँचकर तप में संलग्न शिव को प्रेमलीला की ओर आकृष्ट करने का प्रयास किया। उस समय शिव ने क्रोधित होकर उसे अनंग कर दिया। यह वर्णन बालकाण्ड के 33 वें सर्ग में आता है। इस कथा से कालिदास अवश्य प्रभावित हुए होंगे तथा कुछ आवश्यक परिवर्तनों के साथ इस कथा पर आधारित पार्वती के विवाह से पूर्व हिमालय पर्वत पर उन्होंने कुमारसम्भव में भी मदन-दहन कराया है। अतः कालिदास के महाकाव्य 'कुमारसम्भव' का मूल स्रोत रामायण का बालकाण्ड ही होगा। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कथावस्तु को महाकाव्योचित बनाने में कवि को अपनी कल्पना का भी उपयोग करना पड़ा है। उसने एक कुशल माली के समान कथानक में आवश्यक संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन कर महाकाव्योचित रूप प्रदान किया है।

कतिपय विद्वान् कुमारसम्भव की कथा का स्रोत सम्भवतः महाभारत को मानते हैं, पर इतना तथ्य है कि कवि ने कथावस्तु में स्वेच्छा से परिवर्तन और परिवर्द्धन किए हैं।

वैसे कुमारसम्भव का कथानक शिवपुराण तथा स्कन्दपुराण में निबद्ध कार्तिकेय की कथा से मिलता है किन्तु यहाँ यह विचारणीय अवश्य है कि पुराणों का अधिकांश भाग बहुत बाद का बना हुआ है। ये दोनों पुराण कालिदास के समय में विद्यमान थे-इसका कोई सुदृढ़ प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है। कुमारसम्भव में विविध प्रसंगों का जो रसमय गुम्फन हुआ है, वह कालिदास का अपना है। इस तथ्य की पुष्टि रघुवंश, ऋतुसंहार और मेघदूत नामक काव्यों से भी होती है।

पञ्चम सर्ग का कथासार

भगवान् शिव के द्वारा अपने समक्ष कामदेव को भस्म होते देखकर पार्वती को पूर्ण विश्वास हो गया कि अब सौन्दर्य के द्वारा शिव को प्रसन्न किया जाना सम्भव नहीं है। अतः उन्हें वशीभूत करने के लिए तपस्या ही सर्वश्रेष्ठ साधन है।

यह सोचकर पार्वती ने कठोर तप करने का निश्चय कर लिया। पुत्री के इस निश्चय को उसकी सखियों द्वारा जानकर माता मेना ने उसे बहुत समझाया तथा कठोर साधना करने से रोका किन्तु वह अपने निश्चय से तनिक भी विचलित नहीं हुई और पिता से आज्ञा प्राप्त कर अपनी सखियों के साथ तपस्या करने के लिए गौरी शिखर पर चली गई। पार्वती ने अपने मूल्यवान् वस्त्राभूषण का त्याग कर वल्कल वस्त्रों को धारण कर लिया। उसने कमर में मूँज की मेखला को धारण किया। अधररञ्जन तथा केशों का प्रसाधन त्याग कर जटाओं को धारण किया। वह प्रतिदिन तीन बार स्नान करती, अग्निहोत्र करती तथा रुद्राक्ष की माला के साथ जप किया करती थी। वह भूमि पर शयन करती, ग्रीष्म ऋतु में पञ्चाग्नि तप करती, शीत ऋतु में जल में रात भर खड़ी रहती थी। वर्षा में दिन-रात खुले आसमान के नीचे शिला पर बैठी रहती थी। जो थोड़ा समय बचता था उसमें वह पौधों का सिञ्चन करती तथा मृगों को जंगली दाने चुन-चुनकर खिलाती थी। इतना घोर तप करने पर भी जब उसे अपनी अभीष्ट सिद्धि में सफलता दिखलाई न दी तो उसने अपनी तपस्या को और कठोर कर दिया। पत्ते खाकर ही रहना तपस्या की पराकाष्ठा है किन्तु पार्वती ने अपने आप गिरे पत्तों को खाना भी बन्द कर दिया जिसके कारण उसका नाम 'अपर्णा' हो गया। उनकी तपस्या से सम्पूर्ण तपोवन पवित्र हो गया। उनकी तपस्या के प्रभाव से जंगल के पारस्परिक विरोधी जीवों ने भी जन्मजात शत्रुता त्याग दी और पार्वती की तपस्या की प्रसिद्धि के फलस्वरूप बड़े-बड़े ऋषि मुनि भी उनके दर्शनार्थ आने लगे।

एक दिन स्वयं शिवजी ही ब्रह्मचारी के वेष में उनके समीप आए। पार्वती ने उनका अतिथि सत्कार किया। पार्वती के आतिथ्य से सन्तुष्ट होकर ब्रह्मचारी ने पार्वती से तपस्या का कारण जानने की इच्छा प्रकट की। पार्वती का संकेत पाकर उसकी अन्तरङ्ग सखी ने शिव के प्रति पार्वती के अनन्य-स्नेह एवं शिव को पति रूप में प्राप्त करने सम्बन्धी उनके दृढ़ निश्चय से ब्रह्मचारी को अवगत कराया। ब्रह्मचारी ने पार्वती के प्रेम की सत्यता का परीक्षण करने तथा उसे उसके निश्चय से हटाने के लिए शिव के अनेक दोषों का वर्णन किया और कहा कि हे पार्वती! वर में जो गुण होने चाहिए, शिव में उनमें से एक भी नहीं है। शिव तो अनेक अमंगल वस्तुओं से स्नेह करता है, श्मशान में निवास करता है, चिताभस्म लेप करता है, त्रिनेत्र वाला वह भांग और धतूरा खाता है, नग्न रहता है, भला ऐसे कुरूप वर से तुम जैसी सुन्दरी का विवाह होना उचित है?

शिव की अनेक बुराइयाँ सुनकर पार्वती तनिक भी विचलित नहीं हुई अपितु उसने अपने निश्चय पर दृढ़ रहते हुए ब्रह्मचारी द्वारा बताए गए दोषों का प्रतिवाद किया और कहा कि-मूर्ख व्यक्ति महापुरुषों के असाधारण चरित्र को भली प्रकार समझने में असमर्थ रहते हैं अतः वे उनकी निन्दा करते हैं। शिव अकिञ्चन होने पर भी सबको सम्पत्ति देने वाले हैं, भयानक शरीर के होने पर भी शिव है, वस्तुतः शिव के वास्तविक स्वरूप को जानने वाला कोई नहीं है-

“न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः”

इसके अतिरिक्त-हे ब्रह्मचारी ! जैसा तुमने शिवजी के विषय में कहा है यदि ऐसा सम्भव भी हो तब भी मेरा मन उनके प्रति सदैव अनुरागी ही है। ब्रह्मचारी ने जब पुनः कुछ कहने का प्रयत्न किया तो शिव की बुराई को सुनने में अपने को असमर्थ पाकर पार्वती ने वहाँ से उठकर चले जाने का निश्चय किया और तदनुसार वे वहाँ से चल दीं। जैसे ही वे चलने के लिए तैयार हुईं वैसे ही ब्रह्मचारी वेषधारी शिव ने अपना वास्तविक स्वरूप उनके समक्ष प्रकट कर दिया और कहा -“मैं तुम्हारी तपस्या के द्वारा खरीदा हुआ तुम्हारा दास हूँ।” इतना सुनना भर था कि तपस्या से पार्वती को जो कष्ट हुआ था, वह सब दूर हो गया क्योंकि सफलता प्राप्त हो जाने पर किया हुआ कष्ट आनन्द में परिवर्तित हो जाता है।

सारांशः-पञ्चम सर्ग में पार्वती की तपस्या तथा शिव का उनके साथ समागम हो जाने की कथा वर्णित है। काव्यत्व की दृष्टि से कुमारसम्भव का पञ्चम सर्ग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस सर्ग में पार्वती की तपस्या और तत्पश्चात् ब्रह्मचारी वेषधारी शिव का उनके साथ वार्तालाप वर्णित है जो नाटकीय सौन्दर्य से परिपूर्ण है। शब्द संयोजन ललित एवं साभिप्राय होने तथा अलंकार विन्यास की श्रेष्ठता ने इस सर्ग को महत्त्वपूर्ण बना दिया है। अनेक स्थलों पर प्रकृति के सुन्दर एवं सजीव चित्रण ने पञ्चम सर्ग को कुमारसम्भव का सर्वश्रेष्ठ सर्ग सिद्ध कर दिया है।

ब्रह्मचारी वेषधारी शिव और पार्वती संवाद

काव्य-सौन्दर्य के लिए प्रबन्ध काव्यों के अन्तर्गत संवादात्मकता का होना आवश्यक है। अपने व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति की वार्तालाप करने की अपनी एक प्रणाली होती है, वही उसके चरित्र का मानदण्ड बन जाता है। इसी प्रकार काव्य में पात्रों में हुआ पारस्परिक कथोपकथन भी उनके चरित्र और उनके क्रिया-कलापों को जानने में सहायक होता है। मनुष्य की मानसिक विचारधाराओं

और भावों का ज्ञान उसकी बातचीत से ही होता है। व्यक्ति सुकुमार, कठोर एवं मधुर भावनाओं और वृत्तियों का विकास संवाद या कथोपकथन द्वारा ही करता है। महाकवि कालिदास द्वारा अंकित दो संवाद विशेष महत्वपूर्ण हैं — (1) रघुवंश महाकाव्य में सिंह-दिलीप संवाद और (2) कुमारसम्भव में शिव-पार्वती संवाद।

शिव पार्वती के अपने प्रति अनन्य-स्नेह की परीक्षा लेना चाहते थे, अतएव वे ब्रह्मचारी का वेष धारण कर उस स्थल पर पहुँचे जहाँ पार्वती तपस्या कर रही थी। पार्वती ने आए हुए अतिथि का उचित सत्कार किया। उनके इस आतिथ्य से सन्तुष्ट ब्रह्मचारी पार्वती से कुशल समाचार पूछता हुआ कहता है —

अपि क्रियार्थं सुलभं समित्कुशं,

जलान्यपि स्नानविधिक्षमाणि ते।

अपि स्वशक्त्या तपसि प्रवर्तसे,

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्॥

कुमारसम्भव 5.33

आपको स्नानादि क्रियाओं के निमित्त आश्रम के जलाशयों में यथेष्ट जल मिल जाता है? अग्निहोत्र के निमित्त अपेक्षित समिधा और कुश का अभाव तो नहीं है? आपके द्वारा लगाए गए तथा संवर्द्धित इन वृक्षों से पत्र-पुष्प-फल आदि तो आवश्यकतानुसार आपको प्राप्त होते रहते हैं? तपस्या से होने वाली क्षीणता का अनुभव तो आपको नहीं हो रहा है? आपने अपनी तपस्या से इस पर्वत को पवित्र कर दिया है। आपकी तपस्या अन्य तपस्वियों के लिए अनुकरणीय बन गई है। हे पार्वती! कुलीनता, असाधारण सौन्दर्य एवं ऐश्वर्य सुख आपको तो स्वयं सुलभ हैं जिनकी प्राप्ति के लिये प्रायः लोग तपस्या करते हैं फिर आप यह तपस्या किस फल की प्राप्ति के लिए कर रही हैं? मनस्विनी स्त्रियाँ प्रायः घर में हुए अपमान के कारण भी तपस्या करने में प्रवृत्त हो जाती हैं किन्तु यह कारण भी आपकी तपस्या का प्रतीत नहीं होता है। फिर युवावस्था में धारण किये जाने योग्य वस्त्र एवं आभूषणों का परित्याग कर वृद्धावस्था में धारण करने योग्य इन वल्कल वस्त्रों को आपने क्यों धारण कर रखा है? यदि स्वर्ग प्राप्त करना ही आपको अभीष्ट है तो उसके निमित्त की गई यह तपस्या पूर्णतया निरर्थक है, क्योंकि आपके पिता का प्रदेश तो स्वयं स्वर्ग है। और यदि किसी वर की प्राप्ति

के निमित्त आप यह तप कर रही हैं तो भी यह तपस्या व्यर्थ हैं, क्योंकि आप जैसी सुन्दरी को तो आपका चाहा हुआ व्यक्ति प्राप्त करने का स्वयं ही प्रयास करेगा क्योंकि रत्न ग्राहक को नहीं खोजता है अपितु ग्राहक ही रत्नों की खोज करते हैं।

दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः,

पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः।

अथोपयन्तारमलं समाधिना,

न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्॥

कुमार. 5.45

यद्यपि आपकी यह विह्वलता ही इस बात को जता रही है कि आपकी तपस्या का उद्देश्य वर-प्राप्ति है किन्तु मेरे मन का सन्देह अब भी दूर नहीं हो पा रहा है। कौन ऐसा निष्ठुर हृदय होगा कि जो भीषण तपस्या के कारण अत्यन्त दुर्बल चन्द्रमा की रेखा के समान तुम्हारी काया देखकर भी द्रवीभूत नहीं होता।

शशाङ्कलेखामिव पश्यतो दिवा।

सचेतसः कस्य मनो न दूयते॥

कुमार. 5.48

हे पार्वती! तुम मुझे कोई दूसरा न समझो। अपना अभिन्न मित्र जानकर मुझे यह बताओ कि आपका अभीष्ट वर कौन है? मैं उसको जानना चाहता हूँ। यदि आवश्यकता हो तो मेरी भी तपस्या का आधा भाग लेकर तुम अपने अभीष्ट वर को प्राप्त कर लो।

ब्रह्मचारी की इन बातों को सुनकर पार्वती ने अपनी एक अन्तरङ्ग सखी को उत्तर देने के लिए इशारा किया। पार्वती का संकेत पाकर सखी कहने लगी कि-यह हमारी सखी पार्वती इन्द्र आदि देवताओं का अनादर करके पिनाकपाणि शिव को ही पति के रूप में प्राप्त करना चाहती है। इसीलिए यह कठोर तप कर रही है-

इयं महेन्द्रप्रभृतीनधिश्चिव-

श्चतुर्दिगीशानवमत्य मानिनी।

अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात्

पिनाकपाणिं पतिमाप्नुमिच्छति॥

कुमार. 5.53

सखी के वचनों को सुनकर ब्रह्मचारी पुनः पार्वती से प्रश्न करता है कि “हे पार्वती ! इसका यह कथन सत्य है अथवा परिहास मात्र ही है?” ब्रह्मचारी के प्रश्न को सुनकर पार्वती कहती है कि आपने जैसा सुना है वह अक्षरशः सत्य है। वस्तुतः मेरी तपस्या का उद्देश्य शिवप्राप्ति ही है।

यथा श्रुतं वेदविदां वर! त्वया,
जनोऽयमुच्चैः पदलङ्घनोत्सुकः।
तपः किलेदं तदवाप्तिसाधनं,
मनोरथानामगतिर्न विद्यते॥

कुमार. 5.64

शिव का नाम सुनते ही ब्रह्मचारी उनकी निन्दा करना आरम्भ कर देता है। वह कहता है—शिव अकिञ्चन हैं, उनके कुल तक का पता नहीं है, वे अमांगलिक पदार्थों से प्रेम करते हैं वे अपने हाथ में कंगन के स्थान पर सर्प लपेटे रहते हैं, रक्त रंजित गजचर्म पहनते हैं, शरीर में चिता की भस्म लेपे रहते हैं। उनका वाहन बैल है। उनके तीन नेत्र हैं, इसी से उनके सौन्दर्य का अनुमान लगाया जा सकता है। एक योग्य वर के लिए धन, सौन्दर्य, कुलीनता आदि जिन गुणों का होना परमावश्यक है उनमें से एक भी गुण शिव में दिखलाई नहीं पड़ता है। अतः हे पार्वती ! अपने निश्चय को छोड़ दो।

वर्पुविरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता,
दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
वरेषु यद् बालमृगाक्षि! मृग्यते,
तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने॥

कुमार. 5.72

ब्रह्मचारी द्वारा की गई शिव की निन्दा को सुनकर पार्वती क्रोधित हो जाती है तथा उनका अधर कम्पन करने लगता है। वे कहती हैं कि मूर्ख मनुष्य महापुरुषों के असाधारण चरित्र को ठीक रूप से समझने में असमर्थ होते हैं, इसीलिए वे उनकी निन्दा करते हैं। वस्तुतः आप शिव को यथार्थ रूप से नहीं जानते हो, इसी कारण उनकी निन्दा करते हो। शिव को न तो आपत्तियों से ही भय है और न वे सांसारिक वैभव की ही इच्छा करते हैं, फिर उनका मांगलिक वस्तुओं से क्या प्रयोजन हो सकता है? अकिञ्चन होने पर भी वे समस्त ऐश्वर्यों

के जन्मदाता हैं, त्रैलोक्य के अधिपति होने पर भी श्मशानवासी हैं, भयंकर आकृति से युक्त होने पर भी वे शिव कहलाते हैं। वास्तविकता तो यह है कि शिव के असाधारण चरित्र को जानने वाले हैं ही नहीं। वे असाधारण शक्ति सम्पन्न हैं। चिता की भस्म भी उनके अंगों का स्पर्श पाकर पवित्र हो जाती है और देवता भी उस भस्म को अपने मस्तक पर लगाते हैं—

अकिञ्चनः सन् प्रभवः स सम्पदां,

त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः।

स भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते,

न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः॥

कुमार. 5.77

विद्वज्जन तो उन्हें ब्रह्मा का भी कारण मानते हैं फिर उनके कुल का पता लगाया जाना कैसे सम्भव है? इस प्रकार ब्रह्मचारी के तर्कों का उत्तर देती हुई पार्वती क्रोध से कहती हैं कि हो सकता है, जैसा तुमने सुना है शिव वैसे ही हों किन्तु फिर भी मेरा मन उनके प्रति अनन्यभाव से युक्त है—

अलं विवादेन यथा श्रुतस्त्वया,

तथाविधस्तावदशेषमस्तु सः।

ममात्र भावैकरसं नः स्थितं,

न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते॥

कुमार. 5.82

इतने में पार्वती ने देखा कि ब्रह्मचारी कुछ और कहना चाहता है, अतः उन्होंने अपनी सखी से कहा कि देखो सखी! इस ब्रह्मचारी के ओष्ठ फड़क रहे हैं। ये पुनः कुछ कहना चाहते हैं। इनसे कह दो कि अब ये कुछ न बोलें क्योंकि जो बड़ों की निन्दा करता है केवल वही पाप का भागी नहीं होता अपितु जो सुनता है उसे भी पाप लगता है। अतः मैं ही यहाँ से चली जाती हूँ। यह कहकर वे चल पड़ती हैं। उनके पैर उठाते ही ब्रह्मचारी वेषधारी शिव अपना वास्तविक रूप धारण करके उन्हें पकड़ लेते हैं और कहते हैं—

अद्यप्रभृत्यनवताङ्गि तवास्मि दासः,

क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ।

अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज,

क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते॥

कुमार. 5.86

पार्वती की तपस्या

तपस्या से आत्मा के पाप नष्ट हो जाते हैं और आत्मा कंचन के समान शुद्ध हो जाती है। हम जिस वस्तु को शारीरिक शक्ति के द्वारा प्राप्त नहीं कर सकते हैं, उसको तपस्या द्वारा प्राप्त कर लेते हैं। तपस्या की भट्टी में तपने पर वासनामय प्रेम का कालुष्य नष्ट हो जाता है और वह प्रेम शुद्ध हो जाता है। वासना के सद्भाव में प्रेम स्थाई नहीं हो सकता। इसके स्थायित्व के लिए आध्यात्मिक शक्ति के विकास की आवश्यकता है। अतः पार्वती के लिए अपने अभीष्ट आराध्य शिव की प्राप्ति के लिए तपस्या करना आवश्यक था। जब पार्वती शिव द्वारा भस्म किये हुए कामदेव को अपने नेत्रों से देखती है तो उसे यह निश्चित हो जाता है कि सौन्दर्य से शिव को प्रसन्न करना असम्भव है, अतः तपस्या ही एक ऐसा साधन है, जिससे उन्हें अपने अधीन किया जा सकता है। अतः पार्वती ने अपनी राजसी वेशभूषा का त्याग कर दिया और तपस्वियों का वेष धारण कर वह तपस्विनी बनकर प्रतिदिन त्रिकाल स्नान और अग्निहोत्र करती थी। पार्वती की नियमबद्धता और उग्र तपस्या इतनी प्रसिद्ध हो गई थी कि मुनिजन भी उसके दर्शन के लिए आने लगे थे।

कृताभिषेकां हुतजातवेदसं,

त्वगुत्तरासङ्गवतीमधीतिनाम्।

दिदृक्ष्वस्तामृषयोऽभ्युपागन्,

न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते॥

कुमार. 5.16

जब पार्वती को यह ज्ञात हो गया कि इस प्रकार की तपस्या से अभीष्ट सिद्धि नहीं हो पाएगी, तो उसने अपने शरीर की कोमलता की उपेक्षा कर अधिक कठोर तपस्या करनी आरम्भ कर दी। स्वयं गिरे हुए पेड़ के पत्तों से जीवन निर्वाह करना तपस्या की अन्तिम सीमा है परन्तु पार्वती ने उन स्वयं पतित पत्तों का भक्षण करना भी बन्द कर दिया। इसी कारण विद्वान् उस प्रियभाषिणी को अपर्णा कहने लगे—

स्वयं विशीर्णदुमपर्णवृत्तिता,
 परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः ।
 तदप्यपाकीर्णमतः प्रियम्बदां,
 वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः ॥

कुमार. 5.28

स्पष्ट है कि पार्वती ने अपने कोमल शरीर की उपेक्षा कर अत्यन्त दुस्साध्य कठोर तपस्या की। इस प्रकार की तपस्या बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों से भी सम्भव नहीं है-

मृणालिकापेलवमादिभिः-
 ब्रतैः स्वमङ्गं ग्लपन्त्यहर्निशम् ।
 तपः शरीरैः कठिनैरुपार्जितं,
 तपस्विनां दूरमधश्चकार सा ॥

कुमार. 5.29

पार्वती का चरित्र-चित्रण

पार्वती का चरित्र नितान्त पावन है। कालिदास ने अपनी कुशल तूलिका द्वारा चारित्रिक गुणों की रेखाओं से पार्वती का चरित्रांकन किया है। यही कारण है कि पार्वती के चरित्र में समस्त उदात्त और उत्कृष्ट गुणों का समवाय पाया जाता है। कवि ने उसे साधारण मानव की कोटि से उठाकर देवता की कोटि में बिठा दिया है। भोग और त्याग, आशा और धैर्य, कोमलता और कठोरता, प्रेम और विवेक आदि परस्पर विरोधी गुणों का एकत्र दर्शन किसी महान् व्यक्ति के असाधारण व्यक्तित्व में ही होता है। विश्वकवि कालिदास ने पार्वती के चरित्र में इन समस्त विरोधी गुणों का समन्वय अति उत्तमता के साथ प्रदर्शित किया है। प्रेमी का प्रेम, ज्ञानी का ज्ञान, धीरों का धैर्य, वीरों का साहस, तपस्वियों की तपस्विता, सहिष्णुओं की सहिष्णुता, आशावादियों की आशावादिता तथा अध्यवसायियों का अध्यवसाय आदि समस्त उत्तम गुण पार्वती के चरित्र में सम्मिलित हैं।

पार्वती के चरित्र का सर्वोत्कृष्ट गुण है उसकी प्रेमवृत्ति जो अन्य सभी गुणों का केन्द्र बिन्दु है। उसके प्रेमिल और कोमल हृदय में प्रेम की जो धारा प्रवाहित हो रही है, वह भागीरथी की धारा के समान नितान्त निर्मल और पवित्र है। शिव के प्रति उसके हृदय में अटूट प्रेम है। उसके जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि शिव

को प्राप्त करना ही है। शिव की प्राप्ति के लिए वह बड़े से बड़ा कष्ट सहन करने को तैयार है तथा उसके लिए वह बड़े से बड़ा त्याग भी कर सकती है।

शिव की प्राप्ति में जब उसे अपना शारीरिक रंन्दर्य निष्फल और निरर्थक प्रतीत होता है तो वह उग्र तपस्या द्वारा उन्हें प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय करती है—

तथा समक्षं दहता मनोभवं,

पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।

निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती,

प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता॥

कुमार. 5.1

उसकी माता मेना उसके शरीर की कोमलता की ओर ध्यान आकृष्ट करती हुई उससे तपस्या का निश्चय त्याग देने का अनुरोध करती है—

मनीषिताः सन्ति गृहेषु देवता—

स्तपः क्व वत्से! क्व च तावकं वपुः।

पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं,

शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः॥

कुमार. 5.4

अर्थात् बेटी! तुम्हारे मनोवांछित देवता घर में ही हैं। कहाँ तो यह कठोर तप और कहाँ तुम्हारा कोमल शरीर। शिरीष का कोमल पुष्प भ्रमर के पैर के आघात को तो सहन कर सकता है, पर पक्षी के पैर के आघात को नहीं।

किन्तु पार्वती अपने निश्चय से विचलित नहीं होती। वह अपने सुख-दुःख की चिन्ता किए बिना ही मार्ग में आने वाली विघ्नबाधाओं को चूर-चूर करती हुई तपस्या में संलग्न हो जाती है। शिरीष पुष्प के समान कोमल उसका शरीर तपोजन्य क्लेशों को सहता हुआ वज्र से भी कठोर हो जाता है। पार्वती के शरीर में एक साथ प्राप्त होने वाली कोमलता और कठोरता का चित्रण कवि ने अत्यन्त स्वाभाविता और सजीवता के साथ किया है—

ध्रुवं वपुः काञ्चनपद्मनिर्मितं,

मृदु प्रकृत्या च ससारमेव च॥

कुमार. 5.19

पार्वती की सहिष्णुता पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी है। वह नग्न भूमि पर शयन करती है, उसने पत्तों का भोजन भी त्याग दिया है, स्वयमेव प्राप्त होने वाला जल तथा चन्द्रमा की किरणें ही उसका आहार है। वह ग्रीष्मकाल में पञ्चाग्नि का सेवन करती है, शीतकाल की रात्रियों में रात-रात भर जल में ही खड़ी रहती है और वर्षा ऋतु में वह खुले आकाश में निवास करती है। उसका आचरण तपस्वियों के लिए भी प्रेरणामय है। ऋषिगण भी प्रेरणा प्राप्त करने के निमित्त उसके समीप आने लगे हैं। उन्हें अवस्था का भी ध्यान नहीं है। वे भली भाँति जानते हैं कि धार्मिक आचरणों में जो लोग श्रेष्ठ होते हैं उनकी अवस्था नहीं देखी जाती -

“न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते” - कुमार. 5.16

पार्वती का प्रेम वासनामय अथवा विवेकहीन नहीं है कि जो प्रिय-प्राप्ति के मार्ग में कष्टों को देखकर विचलित हो जाता है। वह शिव के बाह्य सौन्दर्य पर ही आकृष्ट नहीं है, उसके लिए तो उनके आन्तरिक गुण ही आकृष्ट होने के कारण हैं। वह इससे भली भाँति परिचित है। शिव मृत्युञ्जय हैं। उनमें असाधारण तेज है। कामदेव के भस्म होने रूपी कार्य को उसने अपने समक्ष देखा है। पार्वती यह जानती है कि रति और कामदेव जिसे अपनी विभिन्न क्रीड़ाओं द्वारा तनिक भी विचलित नहीं कर सके, उसे अपने शारीरिक सौन्दर्य द्वारा प्राप्त कर लेना सम्भव नहीं है। उसको प्राप्त करने का एकमात्र उपाय तपस्या ही है-

अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं,
तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ॥

कुमार. 5.2

पार्वती के अनन्य प्रेम की परीक्षा लेने के लिए ब्रह्मचारी का वेष बनाकर शिव स्वयं उसके पास जाते हैं। वे वहाँ पहुँचकर शिव की अनेक प्रकार से निन्दा करते हैं कि शिव के वंश का पता नहीं है अतः वे अकुलीन हैं, सर्प, मुण्ड तथा श्मशान आदि अमांगलिक वस्तुओं से प्रेम रखते हैं। वे अकिञ्चन हैं तथा बैल की सवारी करते हैं। स्वयं नंगे रहते हैं तथा शरीर में भस्म लगाए रहते हैं इत्यादि। किन्तु पार्वती इन बातों का उत्तर देते हुए केवल यह कहती है कि-

“न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः” कुमार. 5.77

अर्थात् वास्तविक रूप से शिव को जानने वाले व्यक्ति नहीं हैं। जब वह

देखती है कि वह ब्रह्मचारी पुनः कुछ कहना चाहता है तब वह यह समझकर वहाँ से अन्यत्र चली जाना चाहती है कि केवल महापुरुषों की निन्दा करने वाला ही पापी नहीं होता है वरन् जो उस निन्दा को सुनता है वह भी पाप का भागी होता है—

निवार्यतामालि किमप्ययं बटुः,

पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः।

न केवलं यो महतोऽपमाषते शृणोति

तस्मादपि यः स पापमाक्॥

कुमार. 5.83

इस प्रकार वह अपनी प्रेम-परीक्षा में पूर्णतया सफलता प्राप्त करती है। जिस शिव की समाधि को रति और कामदेव भी भंग नहीं कर सके थे, उस शिव की समाधि को पार्वती ने अपनी कठोर तपस्या से ऐसा छिन्न-भिन्न कर दिया कि शिव को स्वयं ही उसके समीप आने के लिए विवश होना पड़ा और उन्होंने अपने को पार्वती की तपस्या से खरीदे गए दास के रूप में उसके समक्ष उपस्थित कर दिया —

अद्यप्रभृत्यनवताङ्गि तवास्मि दासः,

क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ।

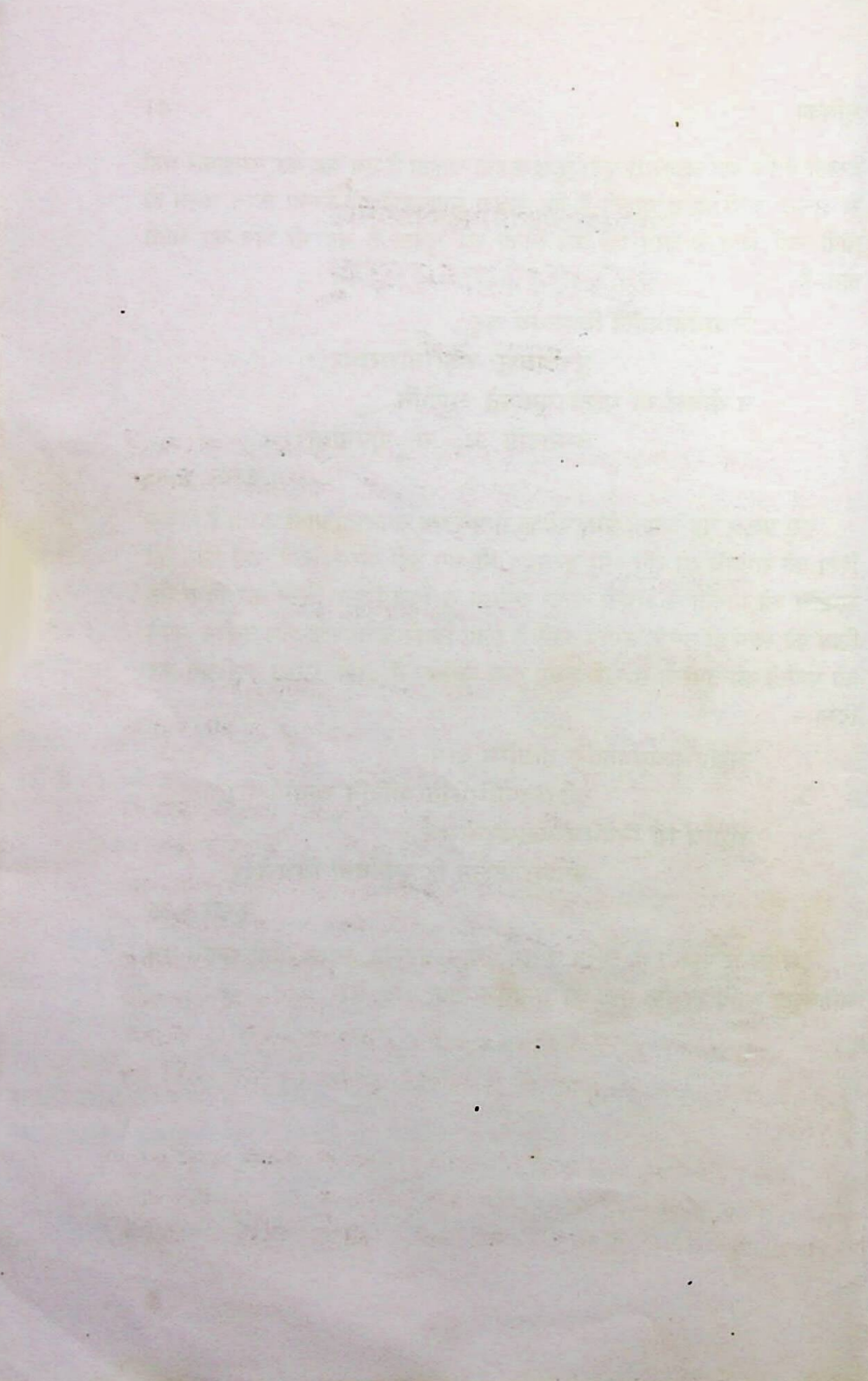
अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज,

क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते॥

कुमार.5.86

इस प्रकार पार्वती के चरित्र में प्रेम, त्याग, तपस्या, आशा, धैर्य, साहस एवं सहिष्णुता आदि उत्कृष्ट गुणों का समावेश पाया जाता है।

• • •



महाकविकालिदासप्रणीतं कुमारसम्भवम्

पञ्चमः सर्गः



1. प्रसंगः—कवि ने तृतीय सर्ग में कामदेव के भस्म हो जाने के बाद चतुर्थ सर्ग में रतिविलाप का वर्णन करके अब इस पंचम सर्ग में पार्वती के तप के द्वारा अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त करने का वर्णन किया है—

तथा समक्षं दहता मनोभवं

पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।

निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती

प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥१॥

अन्वयः—तथा समक्षं मनोभवं दहता पिनाकिना भग्नमनोरथा सती पार्वती हृदयेन रूपं निनिन्द। हि चारुता प्रियेषु सौभाग्यफला (भवति)।

संजीविनी टीकाः—तथेति ॥ पर्वतस्यापत्यं स्त्री पार्वती तथा तेन प्रकारेण अक्ष्णोः समीपे समक्षं पुरतः। 'अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धि'—इत्यादिनाव्ययीभावः। मनोभवं मन्मथं दहता भस्मीकुर्वता पिनाकिना ईश्वरेण भग्नमनोरथः भग्नः खण्डितो मनोरथः अभिलाषो यस्याः सा तथोक्ता सती हृदयेन मनसा रूपं सौन्दर्यं निनिन्द। धिङ् मे रूपं यद्धरमनोहरणाय नालमिति गर्हितवतीत्यर्थः। युक्तं चैतदित्याह—तथा हि। चारुता सौन्दर्यं प्रियेषु पतिषु विषये सौभाग्यफला सौभाग्यं प्रियवाल्लभ्यं फलं यस्याः सा तथोक्ता। सौन्दर्यस्य तदेव फलं यद्धर्तृसौभाग्यं लभ्यते, नो चेद्विफलं तदिति भावः। अस्मिन्सर्गे वंशस्थं वृत्तम्—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति लक्षणात्।

शब्दार्थः—तथा = उस प्रकार, समक्षम् = (आँखों के) सामने, मनोभवम् = कामदेव को, दहता = जलाते हुए, पिनाकिना = शिव के द्वारा, भग्नमनोरथा = नष्ट हो गई है मन की अभिलाषा जिसकी, सती = होती हुई, पार्वती = पार्वती ने,

हृदयेन = हृदय से (मन से), (स्वम् = अपने), रूपम् = सौन्दर्य को, निनिन्द = धिक्कारा (निन्दा की), हि = क्योंकि, चारुता = सौन्दर्य (आकर्षण), प्रियेषु = प्रिय जनों (पति) के विषय में, सौभाग्यफला = सौभाग्य ही है फल जिसका, (भवति = होता है)।

अनुवादः—उस प्रकार अपनी आँखों के सामने कामदेव को जलाते हुए शिव के द्वारा अपने मन की अभिलाषा नष्ट हो जाने के कारण पार्वती अपने रूप की निन्दा करने लगी क्योंकि प्रियजनों को आकृष्ट करना ही सौन्दर्य का फल होता है।

Eng. Trans.—Parvati, baffled in her hopes by Śiva who burnt, in that manner, the mind-born deity (Cupid) in her presence, cursed her beauty in her heart: for beauty has for its guardon good fortune as regards (the being liked by) one's beloved.

व्याख्या—कामदेव के भस्म हो जाने पर पार्वती के द्वारा अपने सौन्दर्य की निन्दा किए जाने का वर्णन करते हुए कवि कह रहे हैं कि जब पार्वती ने भगवान् शंकर की क्रोधाग्नि से कामदेव को अपनी आँखों के सामने भस्म होते हुए देखा तो उनके मन की अभिलाषा नष्ट हो गई क्योंकि पार्वती शिव को पति के रूप में प्राप्त करना चाहती थी, अतः वे अपने सौन्दर्य की निन्दा करने लगीं क्योंकि सच्चा सौन्दर्य वही है जिसके द्वारा अपने प्रियतम को अपनी ओर आकृष्ट किया जा सके। वस्तुतः वह सौन्दर्य सौन्दर्य नहीं कहा जा सकता जो अपने प्रिय को अपनी ओर आकर्षित न कर सके। ऐसा सौन्दर्य पूर्ण रूप से निष्फल ही कहलाएगा और क्योंकि पार्वती अत्यन्त सुन्दर थी किन्तु उनका रूप उनके प्रिय शिव को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सका इसलिए पार्वती ने अपने रूप की निन्दा की।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

समासः—समक्षम् = अक्ष्णोः समीपम् इति (अव्ययीभाव समास); मनोभवम् = मनसि भवः (सप्तमी तत्पुरुष समास), तम्; भग्नमनोरथा = भग्नः मनोरथः यस्याः सा (बहुव्रीहि समास); सौभाग्यफला = सौभाग्यं फलं यस्याः सा (बहु०)।

पदपरिचयः—दहता = √दह् + शतृ, तृतीया वि० एकवचन; सती = √अस् + शतृ + डीप्, प्रथमा वि० एक०; पार्वती = पर्वत + अण् + डीप्, प्र० वि०

एक०; निनिन्द = √निन्द लिट् लकार प्र० पु० एक०; चारुता = चारु + तल् + टप्, प्र० वि० एक०।

अलंकारः—अर्थातन्तरन्यास

छन्दः—वंशस्थ।



2. प्रसंगः—अपने अभिलषित पति को अपने सौन्दर्य द्वारा प्राप्त करने में अपने को असमर्थ जानकर पार्वती ने तप द्वारा अपनी अभीष्ट सिद्धि (पति-प्रेम) को प्राप्त करने का निश्चय किया -

इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां

समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।

अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं

तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥२॥

अन्यवः—सा समाधिम् आस्थाय तपोभिः आत्मनः अवन्ध्यरूपतां कर्तुम् इयेष। अन्यथा तथाविधं प्रेम तादृशः पतिश्च (इति एतद्) द्वयं कथं वा अवाप्यते।

सञ्जीविनी टीकाः—इयेषेति॥ सा पार्वती समाधिम् एकाग्रताम् आस्थाय अवलम्ब्य तपोभिः वक्ष्यमाणनियमैः कारणभूतैः आत्मनः स्वस्य अवन्ध्यरूपतां सफलसौन्दर्यं कर्तुम् इयेष इच्छति स्म। तपसा शिवं वशीकर्तुमुद्युक्तेत्यर्थः। अन्यथा ततोऽन्यप्रकारेण कथं वा तत् द्वयम् अवाप्यते। किं तद् द्वयम्। तथाभूता विधा प्रकारो यस्य तत् तथाविधं प्रेम स्नेहः येनार्घाङ्गहरा हरस्य भवेदिति भावः। तादृशः पतिश्च। यो मृत्युञ्जय इति भावः। द्वयमेव खलु स्त्रीणामपेक्षितं यद्भर्तुवाल्लभ्यं जीवद्भर्तृकत्वं चेति। तच्च तपश्चर्यैकसाध्यमिति निश्चिकायेत्यर्थः। अत्र मनुः—‘यददुष्करं यददुरापं यददुर्गं यच्च दुस्तरम्। तत्सर्वं तपसा प्राप्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥ इति॥

शब्दार्थः—सा = उस (पार्वती) ने समाधिम् = एकाग्रता को, आस्थाय = लगाकर, आश्रय लेकर, तपोभिः = तपस्या के द्वारा, आत्मनः = अपने, अवन्ध्यरूपताम् = सफल सौन्दर्य को, कर्तुम् = करने के लिए, इयेष = इच्छा की, अन्यथा = नहीं तो, तथाविधम् = वैसा, प्रेम = प्रेम, तादृशः = वैसा, पतिः च = और पति (इति एतद् = ये), द्वयम् = दोनों, कथम् = कैसे, अवाप्यते = प्राप्त किया जा सकता है।

अनुवादः—(तब) पार्वती ने समाधि का आश्रय लेकर तपस्या के द्वारा अपने सौन्दर्य को सफल बनाने की इच्छा की, नहीं तो उस प्रकार का प्रेम और वैसा पति, ये दोनों कैसे प्राप्त किए जा सकते हैं?

Eng. Trans.—She wished to make her beauty fruitful by austerities, having recourse to *Samādhi* (contemplation); how else could she secure the two things—such love and a husband of that kind?

व्याख्या—तपस्या के द्वारा पार्वती के शिव को प्राप्त करने की इच्छा का वर्णन करते हुए कवि कह रहे हैं कि कामदेव के भस्म हो जाने के बाद जब पार्वती का मनोरथ भग्न हो गया तब पार्वती ने समाधि का आश्रय लेकर अर्थात् एकाग्रचित्त होकर तपस्या के द्वारा शिव को प्राप्त करने की इच्छा की क्योंकि अत्यन्त दुष्कर मनोरथ की पूर्ति के लिए मनु ने भी अपनी स्मृति में तप नामक साधन को ही उचित ठहराया है -

“यद्दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम्।

तत् सर्वं तपसा साध्यं, तपो हि दुरतिक्रमः॥”

(11/238)

अतः पार्वती द्वारा शिव प्राप्ति रूपी दुष्कर कार्य के लिए तप का अनुष्ठान किया जाना उचित ही था। तपस्या के बिना मृत्यु पर विजय प्राप्त करने वाला शिव सदृश पति तथा पति का उत्कृष्ट प्रेम अर्थात् दृढ़ स्नेह, ये दोनों दुर्लभ बातें प्राप्त कर लेना सम्भव नहीं है—ऐसी धारणा पार्वती के मन में उत्पन्न हुई।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि—तपोभिरात्मनः = तपोभिः + आत्मनः; पतिश्च = पतिः + च।

समास—अवन्ध्यरूपताम् = न वन्ध्यं रूप यस्याः सा अवन्ध्यरूपा (बहु०), तस्या भावः, ताम्; तथाविधम् = तथा विधा यस्य तत् (बहु०); द्वयम् = द्वौ अवयवौ यस्य तत् (बहु०)।

पदपरिचय—समाधिम् = सम् + आ + √धा + कि, द्वि० वि० एक०; आस्थाय = आ + √स्था + ल्यप्; आत्मनः = आत्मन् शब्द पु० ष० वि० एक०; कर्तुम् = √कृ + तुमुन्; इयेष = √इष् लिट् ल० प्र० पु० एक०; अवाप्यते = अव + √आप् कर्मणि यक् लिट् ल० प्र० पु० एक०।

अलंकारः—अर्थान्तरन्यास

छन्दः—वंशस्थ ।



3. प्रसंगः—जब पार्वती की माता मेना को पार्वती की सखी के द्वारा यह ज्ञात हुआ कि पार्वती का मन शिव की ही प्राप्ति में संलग्न हो गया है और वह इसके लिए तपस्या करने को भी कृतसंकल्प है तो माता चिन्तित हुई और कहने लगीं —

निशम्य चैनां तपसे कृतोद्यमां

सुतां गिरीशप्रतिसक्तमानसाम् ।

उवाच मेना परिरभ्य वक्षसा

निवारयन्ती महतो मुनिव्रतात् ॥३॥

अन्वयः—मेना गिरीशप्रतिसक्तमानसां सुतां तपसे कृतोद्यमां निशम्य एनां वक्षसा परिरभ्य महतः मुनिव्रतात् निवारयन्ती (सती) उवाच ।

सञ्जीविनी टीकाः—निशम्येति ॥ मेना मेनका च गिरीशप्रतिसक्तमानसां हरासक्तचित्तां तपसे तपश्चरणाय कृतोद्यमां कृतोद्योगां सुतां निशम्य श्रुत्वा एनां पार्वतीं वक्षसा परिरभ्य आलिङ्ग्य महतः मुनिव्रतात् तपसो निवारयन्ती उवाच । मुनिव्रतादित्यत्र यद्यपि मुनिव्रतस्य मेनकाया अनीप्सितत्वात् वारणार्थानामीप्सितः इति नापादानत्वं, तथापि कृतोद्यमामिति मानसप्रवेशोक्तत्वात् 'ध्रुवमपायेऽपादानं' इत्यपादानत्वमेव स्यात् । यथाह भाष्यकारः—'यच्च मिथ्या सम्प्राप्य निवर्तते तच्च ध्रुवमपायेऽपादानम् इति प्रसिद्धम् ।' इति ।

शब्दार्थः—मेना = मेनका (हिमालय की पत्नी, पार्वती की माता); गिरीशप्रतिसक्तमानसाम् = शिव के प्रति आसक्त हो गया है चित्त जिसका, सुताम् = पुत्री को, तपसे = तप करने के लिए, कृतोद्यमाम् = किया है प्रयास जिसने (दृढ़ निश्चय रखने वाली), निशम्य = सुनकर, एनाम् = इसको, वक्षसा = छाती से, परिरभ्य = आलिङ्गन करके, महतः = महान्, मुनिव्रतात् = मुनियों के व्रत (तपस्या) से, निवारयन्ती = निवारण करती हुई (रोकती हुई), उवाच = कहा (बोली) ।

अनुवादः—मेना ने शिव के प्रति आसक्त चित्त वाली पुत्री (पार्वती) को

तपस्या के लिए दृढ़ निश्चय वाली सुनकर उसे हृदय से लगाकर महान् मुनियों के व्रत (तपस्या) से रोकते हुए कहा।

Eng. Trans.:-Menā, hearing that her daughter, who had set her heart on Śiva, was resolved to practise penance, clasped her to her bosom, and spoke, dissuading her from the difficult vow of asceticism.

व्याख्या:—पार्वती की माता मेना के द्वारा पार्वती को तपस्या से रोके जाने का वर्णन करते हुए कवि यहाँ कह रहे हैं कि जब पार्वती की माता मेना को पार्वती की सखियों से यह पता चला कि पार्वती शिव पर आसक्त होकर उनकी प्राप्ति के लिए तपस्या करने के लिए निश्चय कर चुकी हैं तो उन्होंने पार्वती को अपने हृदय से लगा लिया और उसको मुनियों के द्वारा करणीय कठोर तपस्या करने से रोकने के लिए समझाती हुई बोलीं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:—

सन्धि:—चैनाम् = च + एनाम्।

समास:—गिरीशप्रतिसक्तमानसाम् = गिरेः ईशः गिरीशः (ष० त०), गिरीशे प्रतिसक्तं मानसं यस्याः सा (बहु०) ताम्; कृतोद्यमाम् = कृतः उद्यमः यया सा (बहु०) ताम्; मुनिव्रतात् = मुनीनां व्रतम् इति मुनिव्रतम् (ष०त०) तस्मात्।

पदपरिचय:—तपसे = तपस् शब्द च०वि०एक०; निशम्य = नि + √शम् + ल्यप्; परिरभ्य = परि + √रभ् + ल्यप्; निवारयन्ती = नि + √वृ + णिच् + शतृ + ङीप् प्र०वि०एक०; उवाच = √वच् लिट् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकार:—परिकर

छन्द:—वंशस्थ।



4. प्रसंगः—अतः पार्वती की माता मेना ने पार्वती से कहा—

मनीषिताः सन्ति गृहेषु देवतास्तपः

क्व वत्से! क्व च तावकं वपुः।

पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं

शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः॥४॥

अन्वयः—हे वत्से! मनीषिताः देवताः गृहेषु सन्ति, तपः क्व? तावकं वपु च क्व? पेलवं शिरीषपुष्पं भ्रमरस्य पदं सहेत, पतत्रिणः पुनः न।

सञ्जीविनी टीकाः—सामान्यनिषेधमुक्त्वा विशेषनिषेधमाह—मनीषिता इति॥ हे वत्से। मनस ईषिता इष्टाः मनीषिताः। शकन्वादिवात्साधुः। देवताः शच्यादयः गृहेषु सन्ति। त्वं ता आराधयेति शेषः। तपः क्व। तवेदं तावकम्। 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्ज 'इत्यणप्रत्ययः।' 'तवकममकावेकवचने' इति तवकादेशः। वपुः च क्व। तथा हि। पेलवं मृदुलं शिरीषपुष्पं भ्रमरस्य भृङ्गस्य पदं पदस्थितिं सहेत। पतत्रिणः पुनः पक्षिणस्तु पदं न सहेत। अतिसौकुमार्यादि-व्योपभोगयोग्यं ते वपुर्न दारुणतपःक्षममित्यर्थः। अत्र दृष्टान्तालंकारः।

शब्दार्थः—वत्से = हे पुत्रि!, मनीषिताः = अभीष्ट (मनचाहे), देवताः = देवता लोग, गृहेषु = घर में, सन्ति = हैं, तपः = तपस्या, क्व = कहाँ, तावकम् = तुम्हारा, वपुः = शरीर, च = और, क्व = कहाँ, पेलवम् = कोमल, शिरीषपुष्पम् = शिरीष का फूल, भ्रमरस्य = भवरें के, पदम् = पैर को, सहेत = सहन कर सकता है, पतत्रिणः = पक्षी के, पुनः = किन्तु, न = नहीं।

अनुवादः—हे पुत्रि! (तुम्हारे) मनचाहे देवता घर में ही हैं। कहाँ तो (यह कठोर) तपस्या और कहाँ तुम्हारा (यह कोमल) शरीर? शिरीष का कोमल फूल भौरें के पैर रखने (के भार) को सहन कर सकता है किन्तु पक्षी के (पदाघात को सहन) नहीं (कर सकता)।

Eng. Trans.:—"In the house are such deities as thy heart would desire. Child, how widely different are the two—penance and thy body! The delicate Śirisha flower can bear the tread of a bee, but not that of a bird."

व्याख्याः—मेना अपनी पुत्री पार्वती को तपस्या के कठोर व्रत से रोकने के लिए कहती हैं कि—प्रिय पुत्री पार्वती! तुम घर में रहते हुए ही इन्द्र आदि देवताओं की आराधना करो, क्योंकि तुम्हारा शरीर शिरीष के फूल के समान अत्यन्त कोमल है अतः वह मुनिजनों के लिए उचित कष्ट साध्य तपस्या रूप कार्य को उसी प्रकार सहन नहीं कर सकेगा, जिस प्रकार शिरीष का फूल भौरें के बैठने को तो सहन कर लेता है, किन्तु अन्य पक्षियों के नहीं। अतः तुम अपने इस तपस्या रूपी निश्चय को बदल दो, क्योंकि तपस्या करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धि:-देवतास्तपः = देवताः + तपः।

समास:-मनीषिताः = मनसः ईषिताः (ष० त०); शिरीषपुष्पम् = शिरीषस्य पुष्पम् (ष० त०)।

पदपरिचय:-देवताः = देव + तल् + टप्, प्र० वि० बहु०; गृहेषु = गृह शब्द नपु०स०वि० बहु०; सन्ति = √अस् लट् ल०प्र०पु० बहु०; भ्रमरस्य=भ्रमर शब्द पु०ष०वि०एक०; सहेत = √सह् आत्मनेपदी विधि०ल०प्र०पु०एक०।

अलंकार:-विषम, दृष्टान्त

छन्द:-वंशस्थ।



5. प्रसंग:-इस प्रकार माता मेना के समझाने का पार्वती पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वह अपने दृढ़ निश्चय पर अटल रही-

इति ध्रुवेच्छामनुशासती सुतां

शशाक मेना न नियन्तुमुद्यमात्।

क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः

पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत्॥5॥

अन्वय:-इति अनुशासती मेना ध्रुवेच्छां सुताम् उद्यमात् नियन्तुं न शशाक। ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः निम्नाभिमुखं पयश्च कः प्रतीपयेत्।

सञ्जीविनी टीका:-इतीति॥ इति एवम् अनुशासती उपदिशन्ती मेना ध्रुवेच्छां स्थिरव्यवसायां सुतां पार्वतीम् उद्यमात् उद्योगात्तपोलक्षणात् नियन्तुं निवारयितुं न शशाक समर्था नाभूत्। तथाहि। ईप्सितार्थे इष्टार्थे स्थिरनिश्चयं मनः निम्नाभिमुखं पयः च कः प्रतीपयेत् प्रतिकूलयेत्। प्रतिनिवर्तयेदित्यर्थः। निम्नप्रवणं पय इवेष्टार्थाभिनिविष्टं मनो दुर्वारमिति भावः। अत्र दीपकानुप्राणितः अर्थान्तरन्यासालंकारः।

शब्दार्थ:-इति = इस प्रकार, अनुशासती = उपदेश देती हुई, मेना = पार्वती की माता, ध्रुवेच्छाम् = दृढ़ संकल्प वाली, सुताम् = पुत्री को, उद्यमात् = संकल्प (तपस्या करने) से, नियन्तुम् = रोकने में, न शशाक = समर्थ न हो सकी, ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयम् = अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति में दृढ़ निश्चय रखने वाले,

मनः = मन को, निम्नाभिमुखम् = नीचे की ओर बहते हुए, पयः = जल को, च = और, कः = कौन, प्रतीपयेत् = पलट सकता है।

अनुवादः—इस प्रकार उपदेश देती हुई मेना (अपनी) दृढ़ संकल्प वाली पुत्री को (तपस्या करने रूप) संकल्प से रोकने में समर्थ न हो सकी। अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति में दृढ़ निश्चय रखने वाले मन को और नीचे की ओर बहते हुए जल को कौन पलट सकता है (अर्थात् कोई नहीं)।

Eng. Trans.:—Menā, though thus exhorting her daughter, whose desire was inflexible, could not dissuade her from her resolve : who can turn back a mind firm in its resolution to achieve a desired object, or water rushing towards a low ground?

व्याख्याः—मेना के द्वारा अपनी पुत्री पार्वती को तपस्या के कठोर व्रत से रोके जाने का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं कि पार्वती की माता मेना ने अपनी पुत्री पार्वती को अनेक प्रकार से समझाया, किन्तु वह पार्वती को उसके कठोर तप करने के निश्चय से तनिक भी विचलित न कर सकी। इस बात की पुष्टि के लिए कवि ने एक दृष्टान्त दिया है कि जिस प्रकार नीचे की ओर जाते हुए पानी के प्रवाह को किसी अन्य दिशा में मोड़ना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार अभीष्ट प्राप्ति के लिए दृढ़ निश्चय रखने वाले मन को भी वहाँ से हटाना सम्भव नहीं है।

व्याकरणात्मक टिप्पणीः—

सन्धिः—पयश्च = पयः + च।

समासः—ध्रुवेच्छाम् = ध्रुवा इच्छा यस्याः सा (बहु०) ताम्; ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयम् = ईप्सितः अर्थः (कर्म०), ईप्सितार्थे स्थिरः निश्चयः यस्य सः (बहु०) तम्; निम्नाभिमुखम् = अभिगतं मुखं यस्य तत् अभिमुखम् (बहु०), निम्ने अभिमुखम् (स० त०)।

पदपरिचयः—अनुशासती = अनु + √शास् + शतृ + डीप् प्र०वि०एक०; उद्यमात् = उत् + √यम् + घञ् पं०वि०एक०; नियन्तुम् = नि + √यम् + तुमुन्; शशाक = √शक् लिट् ल०प्र०पु०एक०; मनः = मनस् शब्द नपु०द्वि०वि०एक०; पयः = पयस् शब्द नपु०द्वि०वि० एक०; प्रतीपयेत् = प्रति + √आप् विधि०प्र०पु०एक०।

अलंकारः—दीपक, अर्थान्तरन्यास

छन्दः—वंशस्थ ।



6. प्रसंगः—तत्पश्चात् एक दिन पार्वती ने अपनी सखी के माध्यम से अपने पिता हिमालय से तपस्या के लिए वन में रहने की आज्ञा मांगी -

कदाचिदासन्नसखीमुखेन सा

मनोरथज्ञं पितरं मनस्विनी ।

अयाचतारण्यनिवासमात्मनः

फलोदयान्ताय तपःसमाधये ॥ 6 ॥

अन्वयः—कदाचित् मनस्विनी सा मनोरथज्ञं पितरम् आसन्नसखीमुखेन फलोदयान्ताय तपःसमाधये आत्मनः अरण्यनिवासम् अयाचत ।

सङ्गीविनी टीकाः—कदाचिदिति ॥ अथ कदाचित् मनस्विनी स्थिरचित्ता सा पार्वती मनोरथज्ञम् अभिलाषाभिज्ञं पितरं हिमवन्तम् आसन्नसख्याप्तसखी सैव मुखमुपोयः । 'मुखं निःसरणे वक्त्रे प्रारम्भोपाययोरपि' इति विश्वः । तेन फलोदयः फलोत्पत्तिरन्तोऽवधिर्यस्य तस्मै तपःसमाधये तपोनियमार्थम् आत्मनः स्वस्य अरण्यनिवासं वनवासम् अयाचत । 'दुह्याच् -' इत्यादिना द्विकर्मकत्वम् ।

शब्दार्थः—कदाचित् = किसी समय; मनस्विनी = दृढ़ संकल्प वाली, सा = वह (पार्वती), मनोरथज्ञम् = मानसिक इच्छा को जानने वाला, पितरम् = पिता से, आसन्नसखीमुखेन = अभिन्न हृदय (विश्वसनीय) सखी के माध्यम से, फलोदयान्ताय = फल प्राप्ति (इच्छा पूर्ति) होने तक, तपःसमाधये = तपस्या की सिद्धि के लिए, आत्मनः = अपने लिए, अरण्यनिवासम् = वन में निवास की, अयाचत = प्रार्थना करने लगी ।

अनुवादः—किसी समय दृढ़ संकल्प वाली उस (पार्वती) ने (अपनी) अभिन्न हृदय वाली सखी के द्वारा (उसके) मनोरथ को जानने वाले (अपने) पिता (हिमालय) से फलप्राप्ति पर्यन्त तपस्या की सिद्धि के लिए वन में अपने निवास की आज्ञा मांगी ।

Eng. Trans.:—On one occasion that steady-minded girl, through a friend who was her confidante, begged of her father, who knew her desire, a residence (i.e. permission to

dwel) in the forest in order to perform religious austerities till their fruition.

व्याख्या:—प्रस्तुत श्लोक में कवि ने पार्वती के द्वारा अपनी विश्वसनीय सखी के माध्यम से पिता हिमालय से वन में तपस्या करने के लिए प्रार्थना करने का वर्णन किया है कि यद्यपि पार्वती के पिता हिमालय पार्वती की इच्छा से भलीभाँति परिचित थे परन्तु फिर भी पार्वती उनकी आज्ञा के बिना वन में तपस्या करने के लिए जाना उचित नहीं समझती थी, इसलिए उसने अपनी विश्वसनीय सखी को अपने पिता हिमालय से फल की प्राप्ति होने तक वन में तपस्या करने के लिए आज्ञा प्राप्त करने के लिए भेजा।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:—

सन्धि:—अयाचतारण्यनिवासमात्मनः=अयाचत+अरण्यनिवासम्+आत्मनः।

समास:—मनोरथज्ञम् = मनोरथं जानातीति मनोरथज्ञः (उपपद त०) तम्; आसन्नसखीमुखेन = आसन्ना चासौ सखी आसन्नसखी (कर्म०), तस्याः मुखं आसन्नसखीमुखं (ष०त०) तेन; फलोदयान्ताय = फलस्य उदयः इति फलोदयः (ष० त०), फलोदयः अन्तः यस्य सः (बहु०) तस्मै; तपःसमाधये = तपसः समाधिः इति तपःसमाधिः (ष०त०) तस्मै; अरण्यनिवासम् = अरण्ये निवासः इति अरण्यनिवासः (स०त०) तम्।

पदपरिचय:—मनस्विनी = मनस् + विनि + डीप् प्र०वि०एक०; पितरम् = पितृ शब्द पु०द्वि०वि०एक०; अयाचत = √याच् लङ् ल० प्र०पु०एक०।

अलंकार —परिकर

छन्दः—वंशस्थ।



7. प्रसंगः—पिता की आज्ञा प्राप्त कर लेने के पश्चात् पार्वती ने अपनी तपस्या के लिए प्रस्थान किया तथा तपस्या के योग्य स्थान चुना -

अथानुरूपाभिनिवेशतोषिणा

कृताभ्यनुज्ञा गुरुणा गरीयसा।

प्रजासु पश्चात्प्रथितं तदाख्यया

जगाम गौरी शिखरं शिखण्डिमत्॥ 7 ॥

अन्वयः—अथ अनुरूपाभिनवेशतोषिणा गरीयसा गुरुणा कृताभ्यनुज्ञा गौरी पश्चात् प्रजासु तदाख्यया प्रथितं शिखण्डिमत् शिखरं जगाम ।

सञ्जीविनी टीका—अथेति ।। अथ गौरी अनुरूपाभिनवेशतोषिणा अनुरूपेण योग्येन अभिनवेशेनाग्रहेण तुष्यतीति तथोक्तेन गरीयसा पूज्यतमेन गुरुणा पित्रा कृताभ्यनुज्ञा तपः कुर्विति कृतानुमतिः सती पश्चात् तपः सिद्ध्युत्तरकालं प्रजासु जनेषु तदाख्यया तस्या गौर्याः संज्ञया प्रथितम् । गौरीशिखरमिति प्रसिद्धिमित्यर्थः । शिखण्डिमत् । न तु हिंस्रप्राणिप्रचुरमिति भावः । शिखरं शृङ्गं जगाम ययौ ।

शब्दार्थः—अथ, इसके बाद, अनुरूपाभिनवेशतोषिणा = योग्य आग्रह से सन्तुष्ट हुए, गरीयसा = अत्यन्त पूज्य, गुरुणा = पिता से, कृताभ्यनुज्ञा = दी जा चुकी थी आज्ञा जिसको ऐसी, गौरी = पार्वती, पश्चात् = उसके बाद, प्रजासु = प्रजाजनों में, तदाख्यया = उसी के नाम से, प्रथितम् = प्रसिद्ध, शिखण्डिमत् = मयूरों से युक्त, शिखरम् = चोटी को, जगाम = गई ।

अनुवादः—तब अनुरूप वर में आग्रह होने से सन्तुष्ट अत्यन्त पूज्य पिता (हिमालय) से आज्ञा प्राप्त करके पार्वती लोगों में अपने नाम से प्रसिद्ध होने वाले मयूरों से युक्त शिखर की ओर चल पड़ी ।

Eng. Trans.—Being granted permission by her great father, who was delighted at a persistence worthy of her, she repaired to a peak, full of (i.e. inhabited by) peacocks, which afterwards came to be known by her name among the people.

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में कवि ने हिमालय द्वारा पार्वती को तपस्या करने के लिए अनुमति देने का वर्णन किया है । शिव जैसे असाधारण पति को प्राप्त करने के लिए तपस्या करना पार्वती का आग्रह था जो वस्तुतः उसके अनुरूप ही था इसलिए उसके पिता हिमालय उसके इस निश्चय से सन्तुष्ट भी थे इसीलिए जब हिमालय को पार्वती की अभिन्नहृदया सखी के द्वारा यह ज्ञात हुआ कि उनकी पुत्री की इच्छा शिव जैसे योगी पति को प्राप्त करने की है तो उन्होंने पार्वती को तपस्या करने की अनुमति प्रदान कर दी और पार्वती भी पिता से अनुमति प्राप्त कर अभीष्ट सिद्धि की पूर्ति के लिए हिमालय पर्वत के एक ऐसे शिखर पर गई जो मोरों से युक्त था, उस स्थान पर हिंसक जन्तु नहीं रहते थे इसलिए यह स्थान तपस्या की दृष्टि से उत्तम था अथवा वह स्थल तपस्वीजनों से युक्त था

इसी कारण पार्वती ने अपनी तपस्या के लिए उस शिखर को चुना जो कि बाद में उन्हीं के नाम 'गौरी शिखर' इस नाम से संसार में प्रसिद्ध हो गया।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धि:-अथानुरूप = अथ + अनुरूप।

समास:-अनुरूपाभिनवेशतोषिणा = रूपस्य योग्यम् अनुरूपम् (अव्ययी०), अनुरूपं चासौ अभिनवेशः (कर्म०), तेन तुष्यतीति अनुरूपाभिनवेशतोषि (उपपद त०) तेन; कृताभ्यनुज्ञा = कृता अभ्यनुज्ञा यस्यै सा (बहु०); तदाख्यया = तस्या आख्या (ष०त०) तया; शिखण्डिमत् = प्रशस्ताः शिखण्डिनः सन्ति यस्मिन् तत् (बहु०)।

पदपरिचय:-गरीयसा = गुरु + ईयसुन्-गरीयस् शब्द तृ०वि०एक०; प्रथितम् = √प्रथ् + णिच् + क्त, द्वि०वि०एक०; जगाम = √गम् लिट् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकार:-परिकर

छन्द:-वंशस्थ।



8. प्रसंग:-सर्वप्रथम पार्वती ने तपस्या के योग्य वल्कल वस्त्र को धारण किया -

विमुच्य सा हारमहार्यनिश्चया

विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम्।

बबन्ध बालारुणबभ्रु वल्कलं

पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति ॥८॥

अन्वय:-अहार्यनिश्चया सा विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनं हारं विमुच्य बालारुणबभ्रु पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति वल्कलं बबन्ध।

सङ्गीविनी टीका:-विमुच्येति ॥ अहार्यनिश्चया अनिवार्यनिश्चया सा गौरी विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम् विलोलाभिश्चलाभिर्यष्टिभिः प्रतिसरैः प्रविलुप्तं चन्दनं स्तनान्तरगतं येन तं यथोक्तं हारं मुक्तावलीं विमुच्य विहाय बालारुणबभ्रु बालार्कपिङ्गलं पयोधरयोः स्तनयोरुत्सेधेनोच्छ्रायेण विशीर्णा विघटिता संहतिरवयवसंश्लेषो यस्य तत्तथोक्तं वल्कलं कण्ठलम्बि स्तनोत्तरीयभूतं बबन्ध धारयामासेत्यर्थः।

शब्दार्थः—अहार्यनिश्चया = दृढ़ निश्चय वाली, सा = उस (पार्वती) ने, विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम् = चंचल लड़ियों से चन्दन को पोंछने वाले, हारम् = हार को, विमुच्य = छोड़कर, बालारुणबभ्रु = प्रातः कालीन सूर्य के समान लाल-पीली, पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति = स्तनों की ऊँचाई से छिन्न अवयव वाली, वल्कलम् = वृक्षों की छाल को, बबन्ध = धारण कर लिया।

अनुवादः—दृढ़ निश्चय वाली उस (पार्वती) ने चंचल लड़ियों से चन्दन को पोंछने वाले हार को उतारकर, प्रातः कालीन सूर्य के समान लाल पीली, स्तनों की ऊँचाई से छिन्न अवयव वाली वृक्ष की छाल को धारण कर लिया।

Eng. Trans.—She, of a never-to be shaken disposition, having given up her necklace, which used to rub away the sandal-paste (on her breast) by its tremulous threads, wore a bark-garment, tawny like the morning sun, the close union of which with her body was prevented by her elevated breasts.

व्याख्याः—पार्वती के द्वारा हार को छोड़कर वल्कल धारण करने का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं कि पार्वती ने तपस्या करने का अटल निश्चय कर लिया जिसके कारण उसने अपने शरीर को सुशोभित करने वाले हार आदि आभूषणों का त्याग कर दिया और तपस्या के योग्य वल्कल वस्त्रों को धारण कर लिया जिसकी कान्ति प्रातःकालीन अर्थात् बाल सूर्य के समान लाल-पीली थी और जिसने पार्वती के स्तनों को ढक दिया।

व्याकरणात्मक टिप्पणीः—

समासः—अहार्यनिश्चया = न हार्यः इति अहार्यः (नञ् त०), अहार्यः निश्चयः यस्याः सा (बहु०); विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम् = विलोलाश्च ताः यष्टयः इति विलोलयष्टयः (कर्म०), विलोलयष्टिभिः प्रविलुप्तं चन्दनं तम् (बहु०); बालारुणबभ्रु = बालश्चासौ अरुणः बालारुणः (कर्म०), बालारुण इव बभ्रु (कर्म०); पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति = पयसां धरौ पयोधरौ (ष० त०), पयोधरयोः उत्सेधः पयोधरोत्सेधः (ष० त०), पयोधरोत्सेधेन विशीर्णा संहति यस्य तत् (बहु०) तम्।

पदपरिचयः—विमुच्य = वि + √मुच् + ल्यप्, बबन्ध = √बन्ध् लिट् ल० प्र० पु० एक०।

अलंकारः—यदि एक वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु के लेने या देने का वर्णन हो तो परिवृत्ति अलंकार होता है।

छन्दः—वंशस्थ।



9. प्रसंग—पार्वती ने तपस्या के अनुरूप जटाओं को भी धारण किया—

यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैर्जटाभि-

रप्येवमभूत्तदाननम् ।

न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कजं

सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते ॥१॥

अन्वयः—तदाननं प्रसिद्धैः शिरोरुहैः यथा मधुरम् अभूत्, जटाभिरपि एवं (मधुरम् अभूत्) पङ्कजं षट्पदश्रेणिभिः एव न, किन्तु सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते।

सञ्जीविनी टीकाः—यथेति। तस्या देव्या आननं तदाननं प्रसिद्धैः भूषितैः। 'प्रसिद्धो ख्यातभूषितौ' इत्यमरः। रोहन्तीति रुहाः। 'इगुपधज्ञाप्रीकरिः कः, इति कप्रत्ययः। शिरसि रुहास्तैः शिरोरुहैः मूर्धजैः यथा मधुरं प्रियम् अभूत्। 'स्वादुप्रियौ तु मधुरौ' इत्यमरः। जटाभिः अपि एवं मधुरमभूत्। तथाहि पङ्कजं पद्मं षट्पदश्रेणिभिः भ्रमरपंक्तिभिः एव न किं तु सह शैवलासङ्गेन सशैवलासङ्गम् अपि। 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः। प्रकाशते। शैवलेनापि शोभत एवेत्यर्थः।

शब्दार्थः—तदाननम् = उस (पार्वती) का मुख, प्रसिद्धैः = सुसज्जित, शिरोरुहैः = केशों से, यथा = जैसे, मधुरम् = सुन्दर, अभूत् = था, जटाभिः = जटाओं से, अपि = भी, एवम् = इसी प्रकार (हुआ), पङ्कजम् = कमल, षट्पदश्रेणिभिः = भ्रमर समूह से, एव = ही, न = नहीं, सशैवलासङ्गम् = सिवार (काई) से युक्त होकर, अपि = भी, प्रकाशते = प्रकाशित होता है।

अनुवादः—उस (पार्वती) का मुख जिस प्रकार सजे हुए केशों से सुशोभित लगता था, उसी प्रकार जटाओं से भी (मनोहर) प्रतीत होता था। कमल का पुष्प (केवल) भ्रमरों की पंक्तियों से ही सुशोभित नहीं हुआ करता है (अपितु) काई के साथ भी (शोभायमान लगता है)।

Eng. Trans.:—As her face looked pretty by her decorated tresses, so, it did by her matted hair also; a lotus does not

look beautiful only by the swarms of bees, but even by its union with moss.

व्याख्या:—जट धारण करने पर भी पार्वती सुन्दर लग रही थी—इसी बात को बताते हुए कवि कहते हैं कि पार्वती का प्राकृतिक सौन्दर्य ही इतना आकर्षक और मनोहर था कि उसे सजाने के लिए किसी बाह्य अलंकार के साधनों की आवश्यकता नहीं थी इसीलिए तपस्या से पहले पार्वती के बाल पुष्पादि आभूषणों से सुसज्जित होने पर जैसे सुन्दर लगते थे, जटओं को धारण कर लेने पर भी उसके सौन्दर्य में कोई कमी नहीं आई थी। अपितु जटओं के धारण कर लेने से भी कुछ न कुछ वृद्धि को ही प्राप्त हो रहा था। वस्तुतः मनोहर आकृतियों के लिए कौन सी वस्तु अलंकार नहीं होती है। जैसे—कमल का फूल केवल भ्रमरों से ही सुशोभित नहीं होता है अपितु सिवार से युक्त होने पर भी वह उतना ही मनोहर प्रतीत होता है। इसी भाव को कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शकुन्तला के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए प्रदर्शित किया है—

“किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्”

व्याकरणात्मक टिप्पणी:—

सन्धि:—प्रसिद्धैर्मधुरम् = प्रसिद्धैः + मधुरम्; शिरोरुहैर्जटाभिरप्येवमभूतदाननम् = शिरोरुहैः + जटाभिः + अपि + एवम् + अभूत् + तदाननम्; षट्पदश्रेणिभिरेव = षट्पदश्रेणिभिः + एव।

समास:—तदाननम् = तस्या आननम् (ष०त०); शिरोरुहैः = शिरसि रुहाः (स०त०) तैः; पङ्कजम् = पङ्कात् जायते (पं०त०); षट्पदश्रेणिभिः = षट् पदानि येषां ते षट्पदाः (बहु०), तेषां श्रेणिभिः (ष०त०); सशैवलासङ्गम् = शैवलानां आसङ्गः शैवलासङ्गः (ष०त०) तेन सह वर्तते (बहु०)।

पदपरिचय:—अभूत् = √भू लुङ् ल० प्र०पु०एक०, प्रकाशते = प्र + √काश् लट् ल० प्र०पु०एक०।

अलंकार:—यहाँ उपमान वाक्य एवं उपमेय वाक्य—दोनों में एक ही धर्म मधुरत्व को अलग-अलग शब्दों द्वारा बताया गया है, अतः प्रतिवस्तूपमा अलंकार है।

छन्दः—वंशस्थ।



10. प्रसंगः—तपस्या के लिए मूँज की मेखला को धारण करना भी आवश्यक होता है, इसलिए पार्वती ने उसे भी बाँध लिया —

प्रतिक्षणं सा कृतरोमविक्रियां

व्रताय मौञ्जीं त्रिगुणां बभार याम्।

अकारि तत्पूर्वनिबद्धया तया

सरागमस्या रसनागुणास्पदम् ॥10॥

अन्वयः—सा प्रतिक्षणं कृतरोमविक्रियां त्रिगुणां यां मौञ्जीं व्रताय बभार, तत्पूर्वनिबद्धया तया अस्याः रसनागुणास्पदं सरागम् अकारि।

सञ्जीविनी टीकाः—प्रतीति ॥ सा देवी प्रतिक्षणं क्षणे क्षणे कृतरोमविक्रियां पारुष्यात्कृतरोमाञ्चां त्रिगुणां त्रिरावृत्तां यां मौञ्जीं मुञ्जमयीं मेखलां व्रताय तपसे बभार। तत्पूर्वनिबद्धम् तदेव पूर्वं प्रथमं यस्य तत्पूर्वं यथा तथा निबद्धया तया मौञ्जया अस्याः देव्याः रसनागुणास्यास्पदं स्थानं जघनम्। सह रागेण सरागं सलोहितम् अकारि कृतम्। सौकुमार्यातिशयादिति भावः।

शब्दार्थः—सा = उस (पार्वती) ने, प्रतिक्षणम् = प्रत्येक क्षण, कृतरोम-विक्रियाम् = रोम में विकार उत्पन्न करने वाली, त्रिगुणाम् = तीन लड़ियों वाली, याम् = जिस, मौञ्जीम् = मूँज से बनी हुई (मेखला) को, व्रताय = तपस्या रूपी व्रत के लिए, बभार = धारण किया, तत्पूर्वनिबद्धया = पहली बार धारण की गई, तया = उस (मेखला) से, अस्याः = इस (पार्वती) का, रसनागुणास्पदम् = मेखला बाँधने के स्थान को, सरागम् = राग से युक्त (लाल), अकारि = कर दिया।

अनुवादः—उस (पार्वती) ने प्रत्येक क्षण रोमांच उत्पन्न करने वाली, तीन लड़ियों वाली जिस मेखला को तपस्या के लिए धारण किया, प्रथम बार धारण की गई उसने इस (पार्वती) के मेखला बाँधने के स्थान (कमर) को राग से युक्त कर दिया।

Eng. Trans.:—The place of her waist-band was made red by that string of Muñja grass having three threads which was fastened there for the first time on that occasion,—which (string) she wore for her penance and which (by its harsh touch) caused her hair to stand erect every moment.

व्याख्या:—पार्वती ने जब तपस्या का व्रत आरम्भ कर दिया तो उसके लिए यह भी आवश्यक हो गया कि वह तपस्या के योग्य सभी साधनों को अपनाए। इसीलिए उसने करधनी के स्थान पर तीन लड़की मूँज की बनी मेखला को कमर में पहन लिया। उसने अपने जीवन में इसको पहली बार धारण किया था, अतः उसकी कठोरता के कारण उसके शरीर में रोमांच उत्पन्न हो जाता था और परिणामस्वरूप उसकी कमर में जहाँ पर मेखला बँधी हुई थी, वह स्थान रक्त वर्ण का हो गया था।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:—

समास:—प्रतिक्षणम् = क्षणे क्षणे इति (अव्ययी०); कृतरोमविक्रियाम् = रोम्णां विक्रिया इति रोमविक्रिया (ष०त०), कृता रोमविक्रिया यया सा (बहु०) ताम्; त्रिगुणाम् = त्रयः गुणाः यस्याः सा (बहु०) ताम्; तत्पूर्वनिबद्धया = तदेव पूर्वं निबद्धं यस्याः सा (बहु०) तया; रसनागुणास्पदम् = रसनायाः गुणः रसनागुणः (ष०त०), तस्य आस्पदम् (ष०त०); सरागम् = रागेन सहितम् (बहु०)।

पदपरिचय:—याम् = यत् स्त्री० शब्द द्वि०वि०एक०, मौञ्जीम् = $\sqrt{\text{मुञ्ज}} + \text{अण्} + \text{ङीप्}$ द्वि०वि०एक०, व्रताय = व्रत शब्द पु० चतुर्थी वि०एक०; बभार = $\sqrt{\text{भृ}} \text{ लिट् ल०प्र०पु०एक०}$, अकारि = $\sqrt{\text{कृ}} \text{ कर्म० लुङ् ल०प्र०पु०एक०}$ ।

अलंकार:—परिवृत्ति

छन्दः—वंशस्थ।



11. प्रसंगः—पार्वती ने तपस्या के अंगभूत कुशों को स्वयं लाना तथा अक्षयमाला को धारण करना भी स्वीकार कर लिया -

विसृष्टरागादधरान्निवर्तितः,

स्तनाङ्गरागारुणिताच्च कन्दुकात्।

कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः

कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तथा करः॥ 11॥

अन्वयः—तया विसृष्टरागात् अधरात् निवर्तितः स्तनाङ्गरागारुणितात् कन्दुकाच्च निवर्तितः कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः करः अक्षसूत्रप्रणयी कृतः।

सज्जीविनी टीका:—विसृष्टेति॥ तया देव्या विसृष्टरागात् त्यक्तालाक्षा-

रसरञ्जनात् अधरात् अधरोष्ठात् निवर्तितः। निसृष्टरागात् इति पाठे नितरां त्यक्ताक्षरागात्। रागत्यागेन निष्प्रयोजनत्वादिति भावः। तथा स्तनाङ्गरागेणरुणितादरुणीकृतात् पतनसमये तस्य स्तनयोरुपरोधादिति भावः। कन्दुकाच्च निवर्तितः कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः कुशाङ्कुराणामादानेन लवनेन परिक्षताः त्रणिताः अङ्गुलयो यस्य स तथोक्तः करः पाणिः अक्षसूत्रप्रणयी अक्षमालासहचरः कृतः॥११॥

शब्दार्थः—तया = उस(पार्वती) ने, निसृष्टरागात् = छोड़ दिया गया है रंगना जिसका ऐसे, अधरात् = होंठ से, स्तनाङ्गरागारुणितात् = स्तनों के अंगराग से लाल किए गए, कन्दुकात् = गेंद से, निवर्तितः = हटया गया, कुशाङ्कुरादान-परिक्षताङ्गुलिः = कुशों के अंकुरों को ग्रहण करने से घायल अंगुलियों वाला, करः = हाथ, अक्षसूत्रप्रणयी = रुद्राक्ष की माला से प्रेम करने वाला, कृतः = कर दिया।

अनुवादः—उस(पार्वती) के द्वारा लाक्षारस की लालिमा का परित्याग किए हुए अधरोष्ठ से और स्तनों के अंगराग से लाल गेंद से हटया गया हाथ कुशों के अंकुरों को ग्रहण करने से घायल अंगुलियों वाला और रुद्राक्ष की माला से प्रेम करने वाला कर दिया गया।

Eng. Trans.—She made her hand, the fingers of which were (now) pricked while plucking the tender blades of Kuśa grass, the friend of the rosary of Aksha beads, (—her hand) which was turned away from (i.e. no longer employed in painting) her lower lip from which the red colour had disappeared, and from her (play) ball reddened by the unguent of her breasts.

व्याख्या—पार्वती के द्वारा कुशाहरण और अक्ष की माला ग्रहण किए जाने का वर्णन करते हुए कवि यहाँ कह रहे हैं कि जिन हाथों का उपयोग पार्वती पहले अपने अधरोष्ठ को लालिमा लगाने तथा गेंद खेलने में किया करती थी, अब तपस्या का व्रत ले लेने पर अपने उन्हीं हाथों का उपयोग कुशों के अग्रभाग को तोड़कर लाने तथा रुद्राक्षमाला का जप करने में करना प्रारम्भ कर दिया।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि—निसृष्टरागादधरान्निवर्तितः = निसृष्टरागात् + अधरात् + निवर्तितः,

स्तनाङ्गरागारुणिताच्च = स्तनाङ्गरागारुणितात् + च, कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी = कृतः + अक्षसूत्रप्रणयी ।

समासः—विसृष्टरागात् = विसृष्टः रागः यस्मात् सः (बहु०) तस्मात्; स्तनाङ्गरागारुणितात् = स्तनयोः अङ्गरागः स्तनाङ्गरागः (ष०त०), तेन अरुणितः (तृ०त०) तस्मात्; कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः = कुशानाम् अङ्कुराः कुशाङ्कुराः (ष०त०), तेषाम् आदानं कुशाङ्कुरादानम् (ष०त०), तेन परिक्षताः अङ्गुलयः यस्य सः (बहु०); अक्षसूत्रप्रणयी = अक्षाणां सूत्रम् अक्षसूत्रम् (ष०त०), अक्षसूत्रे प्रणयी (स०त०) ।

पदपरिचयः—निवर्तितः = नि + √वृत् + णिच् + क्त प्र० वि० एक०; कृतः = √कृ + क्त प्र०वि०एक० ।

अलंकारः—पर्याय

छन्दः—वंशस्थ ।



12. प्रसंगः— इसके साथ ही उसने व्रत के अंगभूत भूमि शयन को भी स्वीकार कर लिया था —

महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः

स्वकेशपुष्पैरपि या स्म दूयते ।

अशेत सा बाहुलतोपधायिनी

निषेदुषी स्थण्डिल एव केवले ॥12॥

अन्वयः—महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः स्वकेशपुष्पैः अपि या दूयते स्म, सा बाहुलतोपधायिनी केवले स्थण्डिले एव निषेदुषी अशेत ।

सञ्जीविनी टीकाः—महार्हेति ॥ महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः महानर्हो मूल्यं यस्याः सा महार्हा श्रेष्ठा शय्या तस्यां परिवर्तनेन लुण्ठनेन च्युतैर्भ्रष्टैः स्वकेशपुष्पैः अपि या देवी दूयते स्म क्लिश्यति स्म । पुष्पाधिकसौकुमार्यादिति भावः । सा देवी बाहुलतामुपधत्ते उपधानीकरोतीति बाहुलतोपधायिनी सती केवले संस्तरणरहिते स्थण्डिले भूमौ एव अशेत शयितवती । तथा निषेदुषी उपविष्टा च । 'क्वसुञ्च' इति क्वसुः । 'उगितश्च' इति डीप् । भूमावेव शयनादिव्यवहारो न जातूपरीत्यर्थः ।

शब्दार्थः—महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः = बहुमूल्य शय्या पर करवट बदलने

से गिरे हुए, स्वकेशपुष्पैः = अपने बालों में लगे हुए पुष्पों से, अपि = भी, या = जो (पार्वती), दूयते स्म = कष्ट प्राप्त करती थी, सा = वह, बाहुलतोपधायिनी = लता के समान सुकोमल भुजाओं का तकिया लगाने वाली, केवले = केवल (बिस्तर से रहित), स्थण्डिले = भूमि पर, एव = ही, निषेदुषी = बैठती थी, अशेत = सोती थी।

अनुवादः—बहुमूल्य शय्या पर करवट लेते समय अपने बालों में लगे फूलों के गिरने से भी जो (पार्वती) अत्यधिक कष्ट का अनुभव किया करती थी, वही (पार्वती) अब अपनी बाहु रूपी लता का तकिया लगाकर बिस्तर से रहित भूमि पर बैठती और सोती थी।

Eng. Trans.:—She, who would experience pain even by the flowers dropped down from her hair in her rollings on her costly bed, sat and lay down (now) on the bare earth-platform, using her creeperlike arm as a pillow.

व्याख्याः—मुनि-व्रत धारण करने के बाद पार्वती के जमीन पर सोने का वर्णन करते हुए कवि यहाँ कह रहे हैं कि व्रत लेने से पहले पार्वती अपने पिता के घर में अत्यन्त सुकोमल हंस के समान श्वेत, मुलायम एवं बहुमूल्य पलंग पर सोया करती थी। सोने के समय जब वह करवट बदलती थी तो उस समय उसके बालों से कुछ पुष्प उसकी शय्या पर गिर जाते थे—तो पुष्पों की भी अपेक्षा अत्यधिक कोमल शरीर वाली होने के कारण वे गिरे हुए फूल भी उसके शरीर में चुभकर उसे कष्ट पहुँचाते थे। ऐसी सुकोमल शरीर वाली वह पार्वती तपस्या का व्रत ले लेने के बाद अब बिस्तर से रहित नग्न भूमि पर रात्रि के समय सोया करती थी और दिन के समय बैठती थी। तकिये के स्थान पर उसकी दोनों भुजाएँ ही तकिये का काम करती थीं। वस्तुतः तपस्या का कार्य अत्यन्त कष्टप्रद ही होता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणीः—

सन्धिः—स्वकेशपुष्पैरपि = स्वकेशपुष्पैः + अपि।

समासः—महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः = महान् अर्हः यस्याः सा महार्हा (बहु०स०), महार्हा चासौ शय्या महार्हशय्या (कर्म०), तस्यां परिवर्तनम् महार्हशय्यापरिवर्तनम् (स०त०), तेन च्युतानि महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतानि (तृ०त०) तैः स्वकेशपुष्पैः = स्वे च ते केशाः स्वकेशाः (कर्म०) तेषां पुष्पाणि

(ष०त०) तैः; बाहुलतोपधायिनी = बाहुरेव लता इति बाहुलता (रूपक स०), ताम् उपधत्ते तच्छीला इति (उपपद त०) ।

पदपरिचयः—दूयते = $\sqrt{\text{दूङ् लट् ल० प्र०पु०एक०}}$; निषेदुषी = नि + $\sqrt{\text{सद्}}$ + क्वसु + डीप्, अशेत = $\sqrt{\text{शीङ् लङ् ल०प्र०पु०एक०}}$ ।

अलंकारः—विषम, रूपक ।

छन्दः—वंशस्थ ।



13. प्रसंगः—इस प्रकार पार्वती के सभी स्वाभाविक विलासों का विराम हो गया था -

पुनर्ग्रहीतुं नियमस्थया तया

द्वयेऽपि निक्षेप इवार्पितं द्वयम् ।

लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं

विलोलदृष्टं हरिणाङ्गनासु च ॥13॥

अन्वयः—नियमस्थया तया तन्वीषु लतासु विलासचेष्टितं, हरिणाङ्गनासु विलोलदृष्टं च, द्वये अपि द्वयं पुनः ग्रहीतुं निक्षेपः अर्पितम् इव ।

सङ्गीविनी टीकाः—पुनरिति ॥ नियमस्थया व्रतस्थया तया देव्या द्वये अपि द्वयं पुनः ग्रहीतुं पुनरानेतु निक्षेपः अर्पितमिव निक्षेपत्वेनार्पितं किमु । क्वचित् । द्वयीषु इति प्रामादिकः पाठः । कुत्र द्वये किं द्वयमर्पितमित्याह—तन्वीषु लतासु विलास एव चेष्टितं विलासचेष्टितं हरिणाङ्गनासु विलोलदृष्टं चञ्चलावलोकितं च । व्रतस्थायां तस्यां तयोरदर्शनाल्लतादिषु दर्शनाच्चापितमिवेत्युत्प्रेक्षा, न तु वस्तुतोऽर्पणमस्तीति भावः ।

शब्दार्थः—नियमस्थया = नियम का पालन करने वाली, तया = उस (पार्वती) ने, विलासचेष्टितम् = विलास (हावभाव) की चेष्टियों को, विलोलदृष्टम् = चञ्चल दृष्टि को, च इति द्वयम् = दोनों को, तन्वीषु = पतली, लतासु = लताओं में, हरिणाङ्गनासु = हरिणियों में, च इति द्वये अपि = इस प्रकार दोनों में ही, पुनः ग्रहीतुम् = वापिस लेने के लिए, निक्षेपः इव = मानो धरोहर के रूप में, अर्पितम् = रख दिया ।

अनुवादः—तपस्या के नियमों का पालन करने वाली उस (पार्वती) ने विलास

की चेष्टाओं तथा चञ्चल दृष्टि इन दोनों को (क्रमशः) पतली तताओं और हिरणियों -इन दोनों के पास पुनः वापिस लेने के लिए मानो धरोहर के रूप में रख दिया।

Eng. Trans.:- By her, who was under a vow, had been left, as a deposit to be taken back, the two things with the two, viz. her sportive gesture with the slender creepers, and her unsteady glances with the female deer.

व्याख्या:-तपस्या के समय पार्वती के द्वारा स्वाभाविक विलास-पूर्ण चेष्टाओं के परित्याग का वर्णन करते हुए कवि यहाँ कह रहे हैं कि जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने धन को किसी दूसरे के पास अमानत के रूप में रख देता है और समय पड़ने पर पुनः उसे वापिस ले लेता है उसी प्रकार पार्वती ने भी अपने हाव-भाव आदि विलासों को सुकोमल लताओं के समीप तथा अपनी चञ्चल दृष्टि को हिरणियों के समीप तपस्या-समाप्ति के पश्चात् पुनः वापिस ले लेने के लिए मानो अमानत के रूप में रख दिया था।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धि:-पुनर्गृहीतुम् = पुनः + गृहीतुम्; द्वयेऽपि = द्वये + अपि; निक्षेप इवार्पितम् = निक्षेपः + इव + अर्पितम्।

समास:-नियमस्थया = नियमे तिष्ठतीति नियमस्था (उप०त०) तथा; विलासचेष्टितम् = विलास एव चेष्टितम् (कर्म०स०); विलोलदृष्टम् = विलोलं च तद् दृष्टम् (कर्म०स०); द्वयम् = द्वौ अवयवौ यस्य तत् (बहु०); हरिणाङ्गनासु = हरिणानाम् अङ्गनाः हरिणाङ्गनाः (ष०त०) तासु।

पदपरिचय:-नियमस्थया = नियम + √स्था + क, स्त्री०तु०वि०एक०; तन्वीषु = तनु + डीप् स्त्री० स०वि०बहु०; गृहीतुम् = √ग्रह् + तुमुन्; निक्षेपः = नि + √क्षिप् + घञ् प्र०वि०एक०; अर्पितम् = √ऋ + णिच् + पुक् आगम + क्त प्र०वि०एक०।

अलंकार:-उत्प्रेक्षा

छन्द:-वंशस्थ।



14. प्रसंगः—पार्वती ने अपने तपस्या काल में मुनियों के समान व्यवहार को धारण कर लिया था -

अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षका-

न्यटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धयत् ।

गुहोऽपि येषां प्रथमाप्तजन्मनां

न पुत्रवात्सल्यमपाकरिष्यति ॥ 14 ॥

अन्वयः—अतन्द्रिता सा स्वयम् एव घटस्तनप्रस्रवणैः वृक्षकान् व्यवर्धत् । गुहः अपि प्रथमाप्तजन्मनां येषां पुत्रवात्सल्यं न अपाकरिष्यति ।

सञ्जीविनी टीकाः—अतन्द्रितेति ॥ सा देवी स्वयम् एव अतन्द्रिता अजाततन्द्रा सती । तारकादित्वादित्यत्ययः । वृक्षकान् स्वल्पवृक्षान् । 'अल्पे' इत्यल्पाथे कप्रत्ययः । घटस्तनप्रस्रवणैः घटवेव स्तनौ तयोः प्रस्रवणैः प्रसृतपयोभिः व्यवर्धयत् । गुहः कुमारोपि प्रथमाप्तजन्मनां प्रथमलब्धजन्मनाम् । अग्रजानामित्यर्थः । येषां वृक्षकाणां सम्बन्धि पुत्रवात्सल्यं सुतप्रेम न अपाकरिष्यति । उत्तरत्र कुमारोदयेऽपि न तेषु पुत्रवात्सल्यं निवर्तिष्यत इत्यर्थः ।

शब्दार्थः—अतन्द्रिता = आलस्य रहित, सा = उस (पार्वती) ने, घटस्तनप्रस्रवणैः = घड़े रूपी स्तनों की धाराओं से, वृक्षकान् = छोटे-छोटे वृक्षों को, स्वयमेव = स्वयं ही, व्यवर्धयत् = बढ़ाया, गुहः = कार्तिकेय, अपि = भी, प्रथमाप्तजन्मनाम् = पहले ही प्राप्त किया है जन्म जिन्होंने, येषाम् = जिनके प्रति, पुत्रवात्सल्यम् = पुत्र-प्रेम को, न अपाकरिष्यति = दूर नहीं कर सकेगा ।

अनुवादः—आलस्य-रहित उस (पार्वती) ने घड़े रूपी स्तनों की धाराओं से छोटे-छोटे वृक्षों को स्वयं ही बढ़ाया, कार्तिकेय भी (अपने से) पूर्व जन्म लेने वाले जिनके प्रति (पार्वती के) पुत्र-प्रेम को दूर नहीं कर सकेगा ।

Eng. Trans.:—Never slack in her care, she personally reared up the saplings with outpourings from breast-like-jars—saplings, her motherly affection for which, being first-born, even Kārttikeya would not be able to set aside.

व्याख्याः—तपस्या के समय पार्वती के द्वारा छोटे-छोटे वृक्षों का पुत्र के समान पालन-पोषण किए जाने का वर्णन करते हुए कवि कह रहे हैं कि पार्वती की तपस्या में आलस्य तो छू तक नहीं गया था । उन्होंने जिन वृक्षों को स्वयं

लगाया था उनका सिञ्चन आदि पुत्रवत् स्नेह के समान उनका पालन-पोषण भी नियमित रूप से वह स्वयं करती थीं। जैसे माता दूध पिलाकर अपने पुत्र का पालन पोषण करती है उसी प्रकार पार्वती भी स्वयं घड़ों में जल लाकर उनका सिञ्चन आदि करती थी। उनका वृक्षों के प्रति ऐसा स्वाभाविक स्नेह था कि वैसा स्नेह उनका अपने भावी पुत्र (शिवजी से विवाह के पश्चात् उत्पन्न हुए पुत्र) कार्तिकेय के प्रति भी नहीं रहा होगा। तात्पर्य यह है कि पार्वती उन वृक्षों के प्रति अपने स्वाभाविक प्रेम को अपने जीवन में कभी भी नहीं भुला सकेगी।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धि:-घटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धयत् = घटस्तनप्रस्रवणैः + व्यवर्धयत्, गुहोऽपि गुहः + अपि।

समास:-अतन्द्रिता = न तन्द्रिता (नञ् तत्पुरुष); घटस्तनप्रस्रवणैः = घटैस्तनौ इव इति घटस्तनौ (कर्म०), तयोः प्रस्रवणैः (ष०त०); वृक्षकान् = ह्रस्वाः वृक्षाः इति वृक्षकाः (कर्म०) तान्; प्रथमाप्तजन्मनाम् = प्रथमम् आप्तं जन्म यैः ते (बहु०) तान्; पुत्रवात्सल्यम् = पुत्रस्य वात्सल्यम् (ष०त०)

पदपरिचय:-अतन्द्रिता = नञ् + तन्द्रा + इतच् + टप् स्त्री० प्र०वि०एक०; व्यवर्धयत् = वि + √वृध् लङ् ल०प्र०पु०एक०; येषाम् = यत् शब्द पु०ष०वि०बहु०; अपाकरिष्यति = अप + आ + √कृ लृट् ल० प्र० पु० एक०।

अलंकार:-रूपक

छन्द:-वंशस्थ।



15. प्रसंग:-वन में रहने वाली पार्वती सभी वन्य प्राणियों के प्रति अपने हृदय में दया का भाव रखती थी, इसीलिए वे हरिणों की पूर्ण विश्वासपात्र बन गई थीं-

अरण्यबीजाञ्जलिदानलालिता-

स्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसुः।

यथा तदीयैर्नयनैः कुतूहला-

त्युरः सखीनाममिमीत लोचने॥15॥

अन्वय:-अरण्यबीजाञ्जलिदानलालिताः हरिणाः च तस्यां तथा विशश्वसुः, यथा कुतूहलात् तदीयैः नयनैः लोचने सखीनां पुरः अमिमीत।

सञ्जीविनी टीका:—अरण्येति ।। अरण्यबीजाञ्जलिदानलालिताः अरण्यबी-
जानां नीवारादीनामञ्जलयस्तेषां दानेन लालिताः हरिणाः च तस्यां देव्यां तथा
विशश्वसुः विस्मम्भं जग्मुः । 'समौ विस्मम्भविश्वासौ' इत्यमरः । यथा कुतूहलात्
औत्सुक्यात् तदीयैः हरिणसम्बन्धिभिः नयनैः नेत्रैः करणैः । स्वकीये लोचने सखीनां
पुरः पुरतः । अनेन तेषां सम्बन्धसहत्वमुक्तम् । अमिमीत । अक्षिपरिमाण-
तारतम्यज्ञानाय मानं चकारेत्यर्थः । केचित्तु सा पार्वती तदीयैर्नेत्रैः । कुतूहलात्पुरोऽग्रे
वर्तमानानां सखीनां लोचने अमिमीत वृत्तस्थत्वान्नात्मन इत्याहुः । 'माङ्माने'
इत्यस्माद्धातोर्लङ् । इयमेव खलु विश्वासस्य परा काष्ठा यदक्षिपीडनेऽपि न
क्षुभ्यन्तीति भावः ।

शब्दार्थः—अरण्यबीजाञ्जलिदानलालिताः = जंगली दानों की मुट्ठियों के
देने से पाले-पोसे गए, हरिणाः = हरिण, च = और, तस्याम् = उस (पार्वती) में,
तथा = ऐसा, विशश्वसुः = विश्वास करते थे, यथा = जैसे, कुतूहलात् =
उत्सुकता से, तदीयैः = उनकी, नयनैः = आँखों से, लोचने = आँखों को,
सखीनाम् = सखियों के, पुरः = सामने, अमिमीत = नापती थी ।

अनुवादः—(नीवार आदि) जंगली दानों की मुट्ठियों के देने से पाले-पोसे
गए हिरण उस(पार्वती) में इतना विश्वास करते थे कि (वह) उत्सुकता वश
उनकी आँखों के साथ अपनी आँखों को सखियों के सामने नापती थी ।

Eng. Trans.:—And the fawns, fondled by being given
handfuls of forest-grain, trusted her so far, that out of
curiosity she could measure (the length of) her own eyes
with theirs before her friends.

व्याख्याः—तपोवन में रहते समय पार्वती के प्रति हिरणों के विश्वास का
वर्णन करते हुए कवि यहाँ कह रहे हैं कि वन की घास अर्थात् नीवार आदि के
कणों को खिलाने के कारण पार्वती उन हिरणों की इतनी अधिक परिचित तथा
विश्वासपात्र बन गई थी कि बालिका-सुलभ-चापल्य (चंचलता) के कारण वह
पार्वती जब कभी अपनी सखियों के सामने हिरणी को पकड़ कर यह परखा
करती थी कि उनके तथा हिरणों के नेत्रों में क्या अन्तर है? अथवा उनके नेत्रों से
सखियों के नेत्रों को सामने ही नापती थी । ऐसा करने पर भी वे हिरण उनके
समीप से भागते नहीं थे । विश्वास की यह पराकाष्ठा है कि पार्वती उन हिरणों की
आँखों को पकड़ती थी तब भी वे घबराते नहीं थे ।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धिः-अरण्यबीजाञ्जलिदानलालितास्तथा = अरण्यबीजाञ्जलिदानलालिताः
+ तथा, तदीयैर्नयनैः = तदीयैः + नयनैः, सखीनाममिमीत = सखीनाम् + अमिमीत ।

समासः-अरण्यबीजाञ्जलिदानलालिताः = अरण्यस्य बीजानि अरण्यबीजानि
(ष०त०), तेषाम् अञ्जलयः (ष०त०), तेषां दानम् (ष०त०), तेन लालिताः
(तृ०त०) ।

पदपरिचयः-विशश्वसुः -वि + √श्वस् लिट् ल०प्र०पु० बहु०, तदीयैः =
तद् + छ (ईय) तृ०वि०बहु०, अमिमीत = √माङ् लङ् ल०प्र०पु०एक० ।

अलंकारः-अप्रस्तुतप्रशंसा

छन्दः-वंशस्थ ।



16. प्रसंगः-अब पार्वती का आचरण ऐसा अनुकरणीय और आकर्षक बन गया था कि अन्य मुनि लोग भी उसके दर्शनों को आने लगे -

कृताभिषेकां हुतजातवेदसं

त्वगुत्तरासङ्गवतीमधीतिनीम् ।

दिदृक्षवस्तामृषयोऽभ्युपागम-

नधर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते ॥ 16 ॥

अन्वयः-कृताभिषेकां हुतजातवेदसं त्वगुत्तरासङ्गवतीम् अधीतिनीं तां दिदृक्षवः
ऋषयः अभ्युपागमन् । धर्मवृद्धेषु वयः न समीक्ष्यते ।

सञ्जीविनी टीकाः-कृतेति ॥ कृताभिषेकां कृतस्नानां हुतजातवेदसं हुताग्निकां
कृतहोमामित्यर्थः । त्वचा वल्कलेनोत्तरासङ्गवतीमुत्तरीयवतीं त्वगुत्तरासङ्गवतीम् ।
अधीतमस्या अस्तीति अधीतिनीं स्तुतिपाठादिकुर्वतीम् । 'इष्टादिभ्यश्च'
इतीतिप्रत्ययः । तां देवीं दिदृक्षवः द्रष्टुमिच्छवः ऋषयः मुनयः अभ्युपागमन्
समुपागताः । न चात्र कनिष्ठसेवादोष इत्याह-धर्मवृद्धेषु वयः न समीक्ष्यते न
प्रमाणीक्रियते । सति धर्मज्येष्ठ्ये वयोज्येष्ठ्यं न प्रयोजकमित्यर्थः । तथा च मनुः
-'न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः । यो वा युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं
विदुः' इति ।

शब्दार्थः-कृताभिषेकाम् = कर लिया है स्नान जिसने उसको, हुतजातवेदसम्

= आहुति दी है अग्नि में जिसने उसको, त्वगुत्तरासङ्गवतीम् = वल्कल का उत्तरीय धारण कर लिया है जिसने उसको, अधीतिनीम् = वेद-पाठ करने वाली, ताम् = उस(पार्वती) को, दिदृक्षवः = देखने के इच्छुक, ऋषयः = ऋषिगण, अभ्युपागमन् = पास आते थे, धर्मवृद्धेषु = धर्म में श्रेष्ठ लोगों में, वयः = अवस्था (आयु), न = नहीं, समीक्ष्यते = देखी जाती है।

अनुवादः—स्नान करने वाली, अग्निहोत्र हवन करने वाली, वृक्ष की छाल से निर्मित वल्कल वस्त्रों को धारण करने वाली तथा वेद-पाठ करने वाली उस (पार्वती) के समीप उसके दर्शनों के अभिलाषी ऋषिगण आया करते थे। धर्म में अग्रणी लोगों की आयु नहीं देखी जाती है।

Eng. Trans.—Sages came there, desirous of seeing her, who used to take a sacred bath, to offer oblations to the fire, to wear a bark as her upper garment, and to recite (sacred texts) : age is no consideration in the case of those who are old in spiritual attainments.

व्याख्याः—तपोवन-निवास काल में पार्वती के बढ़ते हुए प्रभाव का वर्णन करते हुए कवि यहाँ कह रहे हैं कि तपस्या में लीन पार्वती प्रतिदिन नियम से तीन बार स्नान तथा अग्निहोत्र किया करती थी। वे वल्कल वस्त्र पहनती थीं तथा नित्य वेदपाठ किया करती थीं। निरन्तर इन नियमों का पालन करते रहने के कारण वे धर्म में ही अग्रणी हो गई थीं। परिणामस्वरूप अनेक तपस्वी मुनिजन उनके दर्शन के लिए आने लगे। यद्यपि पार्वती अल्पवयस्का थीं किन्तु उनके समीप उनकी आयु की अपेक्षा कहीं अधिक बड़े मुनि लोग आया करते थे। अतः महाकवि कालिदास कहते हैं कि जो व्यक्ति धर्मवृद्ध हुआ करता है उसकी आयु की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है। वृद्धत्व चार प्रकार का माना गया है—वैराग्यवृद्धत्व, ज्ञानवृद्धत्व, धर्मवृद्धत्व और वयोवृद्धत्व—इनमें प्रथम तीन प्रकार का वृद्धत्व चतुर्थ प्रकार के वृद्धत्व की अपेक्षा नहीं किया करता है। जैसा कि महाराज मनु ने भी कहा है—

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।

यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥

इसके अतिरिक्त अवस्था में कहीं अधिक ऋषि गण अल्पवयस्का उस पार्वती के दर्शनों के निमित्त जो आया करते थे। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं

है क्योंकि पार्वती गुणों तथा धर्म की दृष्टि से उन ऋषियों की अपेक्षा कहीं अधिक आगे थी और उसका चरित्र अनुकरणीय बन चुका था। जो लोग धर्म में श्रेष्ठता को प्राप्त कर लेते हैं उनकी अवस्था के बारे में विचार करने की आवश्यकता नहीं होती है। महाकवि भवभूति द्वारा भी उत्तररामचरित में इसी भाव को व्यक्त किया गया है -

“गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः”

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धि:-दिदृक्षवस्तामृषयोऽभ्युपागमन् = दिदृक्षवः + ताम् + ऋषयः + अभ्युपागमन्।

समास:-कृताभिषेकाम् = कृतः अभिषेकः यया सा (बहु०) ताम्; हुतजातवेदसम् = जातं विदन्ति वेत्ति वा इति जातवेदाः (उपपद त०), हुतः जातवेदाः यया सा (बहु०) ताम्; त्वगुत्तरासङ्गवतीम् = उत्तरासङ्गः अस्या अस्तीति (बहु०), त्वचा उत्तरासङ्गवती (तु०त०) ताम्; धर्मवृद्धेषु = धर्मेण वृद्धाः (तु०त०) तेषु।

पदपरिचय:-अधीतिनीम् = अधि + √इङ् + क्त + इनि + डीप् द्वि०वि० एक०; दिदृक्षवः = √दृश् + सन् + उ, प्र०वि०बहु०; अभ्युपागमन् = अभि + उप + आ + √गम् लङ् ल०प्र०पु० बहु०; समीक्ष्यते = सम् + √ईक्ष् कर्म० लट् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकार:-काव्यलिङ्ग, परिकर

छन्द:-वंशस्थ।



17. प्रसंग:- पार्वती के द्वारा जिस स्थान पर तप किया जा रहा था वह स्थान (तपोवन) भी उसके तप के कारण सच्चे अर्थों में तपोवन ही बन गया था-

विरोधिसत्वोज्झितपूर्वमत्सरं,

दुर्मैरभीष्टप्रसवार्चितातिथि।

नवोटजाभ्यन्तरसंभृतानलं,

तपोवनं तच्च बभूव पावनम्॥17॥

अन्वयः—विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरं दुमैः अभीष्टप्रसवार्चितातिथि नवोटजाभ्यन्तरसंभृतानलं तच्च तपोवनं पावनं बभूव ।

सञ्जीविनी टीकाः—विरोधीति ।। विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरं विरोधिभिः सत्त्वैर्गोव्याघ्रादिभिरुज्झितपूर्वमत्सरं त्यक्तपूर्ववैरम् । हिंसारहितमित्यर्थः । दुमैः अभीष्टप्रसवार्चितातिथिः अभीष्टप्रसवेनेष्टफलेनार्चिताः पूजिताः अतिथयो यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । नवोटजाभ्यन्तरसंभृतानलं नवानामुटजानां पर्णशालानामभ्यन्तरेषु संभृताः संचिता अनला अग्नयो यस्मिंस्तत्तथोक्तं तत् च तपोवनं पावयतीति पावनं बभूव । अहिंसातिथिसत्काराग्निपरिचर्याभिर्जगत्पावनं बभूवेत्यर्थः ।

शब्दार्थः—विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरम् = विरोधी प्राणियों के द्वारा छोड़ दिया गया है पहले का द्वेष जिसमें, दुमैः = वृक्षों ने, अभीष्टप्रसवार्चितातिथि = अभीष्ट फलों से सत्कार किया गया है अतिथियों का जिसमें, नवोटजाभ्यन्तरसंभृतानलम् = नवीन निर्मित पर्णशालाओं के अन्दर संचित है अग्नि जिसमें, तत् = (ऐसा) वह, तपोवनम् = तपोवन, पावनम् = पवित्र, बभूव = हो गया ।

अनुवादः—जहाँ परस्पर विरोधी प्राणियों ने अपनी जन्मजात शत्रुता छोड़ दी थी, वृक्षों के द्वारा अभीष्ट फलों से अतिथियों का सत्कार किया जाता था, नवीन निर्मित पर्णकुटियों में निरन्तर प्रज्वलित रहने वाली हवन की अग्नि सञ्चित रहती थी, ऐसा वह (पार्वती का) तपोवन पवित्र करने वाला हो गया ।

Eng. Trans.:—The sacred grove, too, became holy, where the previous antipathy between warring beasts was abandoned, where the guests were well gratified with the (gifts of) desired fruit by the trees, and where the sacred fires were kindled in newly-built huts of leaves.

व्याख्याः—पार्वती के तपोवन का वर्णन करते हुए कवि यहाँ कह रहे हैं कि पार्वती जिस स्थान पर तपस्या कर रही थीं, वह स्थान पार्वती के तप के प्रभाव से अत्यन्त शान्त और पवित्र तपोवन ही बन गया था । वहाँ पर रहने वाले गो, व्याघ्र आदि वन्य प्राणियों ने अपने जन्मजात स्वाभाविक वैर को त्याग दिया था । क्योंकि सामान्यतः तपोवन में ऋषियों के तप के प्रभाव से परस्पर विरोधी प्राणी अपने स्वाभाविक वैर का त्याग कर दिया करते हैं । उस तपोवन में स्थित वृक्षों के स्वयं गिरे हुए सुस्वादु फलों से अतिथियों का सत्कार किया जाता था । उस

तपोवन के अन्दर विद्यमान पत्तों से निर्मित कुटियों अर्थात् पर्णशालाओं में निरन्तर हवन की अग्नि प्रज्वलित रहती थी। पार्वती के तप के प्रभाव से प्रभावित ऐसे तपोवन में दर्शनमात्र से ही मनुष्य पवित्र हो जाता था।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धि:-द्रुमैरभीष्टप्रसवार्चितातिथि = द्रुमैः + अभीष्टप्रसवार्चितातिथि, तच्च = तत् + च।

समास:-विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरम् = पूर्वः मत्सरः पूर्वमत्सरः (कर्म०), विरोधिनश्च ते सत्त्वाः विरोधिसत्त्वाः (कर्म०), तैः उज्झितः पूर्वमत्सरः यस्मिन् तत् (बहु०); अभीष्टप्रसवार्चितातिथि = अभीष्टैः प्रसवः अर्चिताः अतिथयः यस्मिन् तत् (बहु०); नवोटजाभ्यन्तरसंभृतानलम् = नवानाम् उटजानाम् अभ्यन्तरे संभृताः अनलाः यस्मिन् तत् (बहु०); तपोवनम् = तपसः वनम् (ष०त०)।

पदपरिचय:-बभूव = $\sqrt{\text{भू}} \text{ लिट् ल० प्र०पु० एक०}।$

अलंकार:-परिकर

छन्द:-वंशस्थ।



18. प्रसंग:-अपनी उपर्युक्त तपस्या के फलस्वरूप अपने उद्देश्य की पूर्ति न देख पार्वती ने और भी अधिक कठोर तप करने का निश्चय कर लिया -

यदा फलं पूर्वतपःसमाधिना,

न तावता लभ्यममंस्त काङ्क्षितम्।

तदानपेक्ष्य स्वशरीरमार्दवं,

तपो महत्सा चरितुं प्रचक्रमे॥18॥

अन्वय:-सा यदा तावता पूर्वतपः समाधिना काङ्क्षितं फलं लभ्यं न अमंस्त, तदा स्वशरीरमार्दवम् अनपेक्ष्य महत् तपः चरितुं प्रचक्रमे।

सञ्जीविनी टीका:-यदेति॥ सा देवी यदा यस्मिन् काले तावता तावत्प्रमाणेन पूर्वतपःसमाधिना पूर्वेणानुष्ठीयमानप्रकारेण तपोनियमेन काङ्क्षितं फलं लब्धुं शक्यं न अमंस्त अशक्यममंस्तेत्यर्थः। तदा तत्काले। अविलम्बेनेत्यर्थः। स्वशरीरमार्दवं स्वशरीरस्य मार्दवं मृदुत्वं सौकुमार्यम् अनपेक्ष्य अविगणय्य महत् दुश्चरं तपः चरितुं साधयितुं प्रचक्रमे उपचक्रमे।

शब्दार्थः—सा = उसने, यदा = जब, तावता = उतने मात्र से, पूर्वतपः समाधिना = पूर्वोक्त तपसमाधि के द्वारा, काङ्क्षितम् = मनोवाञ्छित, इष्ट, फलम् = फल को, लभ्यम् = प्राप्त करने योग्य, न = नहीं, अमंस्त = माना, तदा = तब, स्वशरीरमार्दवम् = अपने शरीर की कोमलता को, अनपेक्ष्य = ध्यान में न रखते हुए, महत् = महान्, तपः = तप को, चरितुम् = आचरण करने के लिए, प्रचक्रमे = आरम्भ कर दिया।

अनुवादः—उस (पार्वती) ने जब उतनी पूर्वोक्त तपसमाधि के द्वारा मनोवाञ्छित फल (शिव प्राप्ति रूप फल) को प्राप्त करने योग्य नहीं माना, तब अपने शरीर को कोमलता को न गिनते हुए कठिन तप के लिए आचरण करना आरम्भ कर दिया।

Eng. Trans.—When she thought that the desired fruit was not to be attainable by that kind of penance which she had been already practising, then, disregardful of the delicacy of her body, she began a greater penance.

व्याख्या—पार्वती के द्वारा कठिन तपस्या किए जाने का वर्णन करते हुए कवि यहाँ कह रहे हैं कि जब पार्वती ने यह समझ लिया कि पहले की हुई तपस्या के द्वारा शिव प्राप्ति रूप मनोवाञ्छित फल प्राप्त करने योग्य नहीं है तब उसने अपने शरीर की कोमलता की गणना न करते हुए और भी अधिक कठोर तपस्या करना प्रारम्भ कर दिया।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि—लभ्यममंस्त = लभ्यम् + अमंस्त, तदानपेक्ष्य = तदा + अनपेक्ष्य।

समास—पूर्वतपः समाधिना = तपसः समाधिः इति तपः समाधिः (ष०त०), पूर्वश्चासौ तपः समाधिः (कर्म०) तेन; स्वशरीरमार्दवम् = स्वस्य शरीरम् इति स्वशरीरम् (ष०त०), तस्य मार्दवम् (ष०त०)।

पदपरिचय—तावता = तत् + वतुप् तृ०वि०एक०; लभ्यम् = √लभ् + यत् प्र०वि०एक०; अमंस्त = √मन् लुङ् ल०प्र०पु०एक०; अनपेक्ष्य = नञ् + अप + √ईक्ष् + ल्यप्; चरितुम् = √चर् + तुमुन्; प्रचक्रमे = प्र + √क्रम् लिट् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकार—काव्यलिङ्ग

छन्दः-वंशस्थ ।



19. प्रसंगः-उस पार्वती ने पहले की अपेक्षा और अधिक कठोर तप करना प्रारम्भ कर दिया -

क्लमं ययौ कन्दुकलीलयापि या,
तया मुनीनां चरितं व्यगाह्यत ।

ध्रुवं वपुः काञ्चनपद्मनिर्मितं,
मृदु प्रकृत्या च ससारमेव च ॥19॥

अन्वयः-या कन्दुकलीलया अपि क्लमं ययौ, तया मुनीनां चरितं व्यगाह्यत ।
ध्रुवम् (अस्याः) वपुः काञ्चनपद्मनिर्मितम्, (अत एव) प्रकृत्या मृदु च ससारम्
एव च ।

सञ्जीविनी टीकाः-क्लममिति ।। या देवी कन्दुकलीलया कन्दुकक्रीडया
अपि क्लमं ययौ ग्लानिं प्राप । तया देव्या मुनीनां चरितं तीव्रं तपः व्यगाह्यत
प्रविष्टम् । अत्रोत्प्रेक्षते - ध्रुवम् अस्याः वपुः काञ्चनपद्मनिर्मितं काञ्चनपद्मेन
सुवर्णकमलेन निर्मितं घटितम् । अतएव प्रकृत्या पद्मस्वभावेन मृदु च सुकुमारमपि
काञ्चनस्वभावेन ससारं च कठिनम् एव । तथा च तदुपादानकत्वाद्देव्या वपुषः
सुकुमारस्यापि तीव्रतपःक्षमत्वमित्युत्प्रेक्षार्थः ।

शब्दार्थः-या = जो(पार्वती), कन्दुकलीलया = गेंद के खेल से, अपि =
भी, क्लमम् = थकावट को, ययौ = प्राप्त होती थी, तया = उसने, मुनीनाम् =
मुनियों के, चरितम् = चरित का, व्यगाह्यत = अवगाहन (अनुसरण) किया,
ध्रुवम् = निश्चय ही, (अस्याः = इसका), वपुः = शरीर, काञ्चनपद्मनिर्मितम् =
स्वर्ण और कमल से बना था, (अतएव = इसीलिए), प्रकृत्या = स्वभाव से, मृदु
= कोमल, च = और, ससारम् एव च = और भी कठोर, (आसीत् = था) ।

अनुवादः-जो (पार्वती) गेंद खेलने से भी थकावट को प्राप्त होती थी,
उसने मुनियों के चरित का अवगाहन किया, निश्चय ही (इस पार्वती का) शरीर
स्वर्ण और कमल से बना हुआ था, (इसी कारण उसका शरीर) स्वभाव से ही
कोमल और सार से युक्त (कठोर) था ।

Eng. Trans.:—She, who was fatigued even by playing with
the ball, entered upon the course of life of anchorites : verily

her body was composed of gold lotuses, as it was delicate by nature and yet tough (full of substance).

व्याख्या:—पार्वती की गम्भीर तपस्या का वर्णन करते हुए कवि यहाँ कह रहे हैं कि तपस्या प्रारम्भ करने से पहले पार्वती का शरीर इतना सुकुमार अर्थात् कोमल था कि वह साधारण गेंद खेलने मात्र से ही थकावट का अनुभव करने लगती थी और अब वही पार्वती अपने उसी कोमल शरीर से मुनियों की अपेक्षा और भी अधिक कठोर तप करने लगी थी। अतः ऐसा प्रतीत होता था कि मानो उस पार्वती का शरीर सोने तथा कमल या स्वर्णकमल से ही बना हो क्योंकि वह कमल के समान सुकोमल तथा स्वर्ण के समान कठोर भी थी।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:—

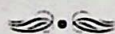
सन्धि:—कन्दुकलीलयापि = कन्दुकलीलया + अपि।

समास:—कन्दुकलीलया = कन्दुकस्य लीला (ष०त०)तया; काञ्चनपद्म-निर्मितम् = काञ्चनं च पद्मं च काञ्चनपद्मे (द्वन्द्व०स०), ताभ्यां निर्मितम् (तृ०त०); ससारम् = सारेण सह वर्तते इति (बहु०स०)।

पदपरिचय:—ययौ = √या लिट् ल०प्र०पु०एक०; व्यगाह्यत = वि + √गाह् कर्म० लङ् ल०प्र०पु०एक०; प्रकृत्या = प्र + √कृ + क्तिन् तृ०वि०एक०।

अलंकार:—उत्प्रेक्षा

छन्द:—वंशस्थ।



20. प्रसंगः—अब पार्वती द्वारा किए गए तप के प्रकारों का वर्णन करते हैं—

शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां,

शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा।

विजित्य नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभा-

मनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत॥ 20॥

अन्वयः:—शुचौ ज्वलतां चतुर्णां हविर्भुजां मध्यगता शुचिस्मिता सुमध्यमा नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभां विजित्य अनन्यदृष्टिः सती सवितारम् ऐक्षत्।

सङ्गीविनी टीका:—शुचाविति॥ शुचौ ग्रीष्मे शुचिस्मिता विशदमन्दहासा सुमध्यमा पार्वती ज्वलतां दीप्तिमतां चतुर्णां हविर्भुजाम् अग्नीनां मध्यगता सती।

नेत्रे प्रतिहन्तीति तां नेत्रप्रतिधातिनीं प्रभां सावित्रं तेजः विजित्य । न विद्यतेऽन्यत्र दृष्टिर्यस्याः सा अनन्यदृष्टिः सती सवितारं सूर्यम् ऐक्षत ददर्श । ग्रीष्मे पंचाग्निमध्यस्थो वर्षासु स्थण्डिलेशयः । इति स्मरणात् । पंचाग्निमध्ये तपश्चचारेत्यर्थः । सवितैव पंचमोऽग्निः—‘अग्निः सविता सवितैवाग्निः’ इति श्रौतलिङ्गात् ।

शब्दार्थः—शुचौ = ग्रीष्मकाल में, ज्वलताम् = जलती हुई, चतुर्णाम् = चार, हविर्भुजाम् = अग्नियों के, मध्यगता = मध्य में स्थित, शुचिस्मिता = निर्मल मुस्कान वाली, सुमध्यमा = सुन्दर कटिप्रदेश (कमर) वाली, नेत्रप्रतिधातिनीम् = नेत्रों को चकाचौंध कर देने वाली, (सूर्यस्य = सूर्य की), प्रभाम् = दीप्ति (चमक) को, विजित्य = जीतकर, अनन्यदृष्टिः = एकटक होकर, सवितारम् = सूर्य को, ऐक्षत = देखा ।

अनुवादः—ग्रीष्म ऋतु में प्रज्वलित चार अग्नियों के मध्य स्थित निर्मल मुस्कान वाली और सुन्दर कमर वाली (पार्वती) आँखों को चकाचौंध कर देने वाली (सूर्य की) चमक को जीतकर दूसरी ओर न (एकटक) देखती हुई (केवल) सूर्य को देखा करती थी ।

Eng. Trans.—In summer, she of sweet smiles and a delicate waist, sitting in the midst of four blazing fires, gazed at the sun with her sight not directed to anything else, having got the better of (i.e. being accustomed to bear) his lustre that dazzles the eye.

व्याख्या—पार्वती की ग्रीष्मकालीन तपस्या का वर्णन करते हुए कवि यहाँ कह रहे हैं कि कठोर तपस्या करने के प्रारम्भ में पार्वती ने सर्वप्रथम पञ्चाग्नि साधक तप को करना प्रारम्भ किया । उसने अपने सामने, पीछे, दाहिने, बाएँ-चारों ओर अग्नि प्रज्वलित कर, आँखों को चकाचौंध कर देने वाली सूर्य की किरणों पर भी विजय प्राप्त कर ली और तत्पश्चात् एकटक होकर सूर्य की ओर ही देखा करती थी । इस तप से उसकी दृष्टि किसी दूसरी ओर एक क्षण के लिए भी नहीं जाती थी । उसके लिए सूर्य ही पञ्चम अग्नि था । इस प्रकार वह पार्वती पञ्चाग्नि साधक तप में संलग्न थी । जिसमें साधक अर्थात् तप करने वाला अपने चारों ओर (आगे, पीछे, दाहिने, बायें) अग्नि लगाकर और सूर्य को ही एकटक देखता है वह पञ्चाग्नि साधक तप कहलाता है ।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

समासः-हविर्भुजाम् = हविः भुञ्जन्ते इति हविर्भुजः (उपपद त०) तेषाम्; शुचिस्मिता = शुचि स्मितं यस्याः सा (बहु०); सुमध्यमा = शोभनः मध्यमः यस्याः सा (बहु०स०); नेत्रप्रतिधातिनीम् = नेत्रयोः प्रतिधातिनी (ष०त०) ताम्; अनन्यदृष्टिम् = न अन्यस्मिन् दृष्टिः यस्याः सा (बहु०स०) ।

पदपरिचयः-ज्वलताम् = $\sqrt{\text{ज्वल्}} + \text{शतृ ष०वि०बहु०}$; हविर्भुजाम् = हविस् + $\sqrt{\text{भुज्}} + \text{क्विप् ष०वि०बहु०}$; प्रतिधातिनीम् = प्रति + $\sqrt{\text{हन्}} + \text{णिनि} + \text{ङीप् द्वि०वि०एक०}$; विजित्य = वि + $\sqrt{\text{जि}} + \text{त्यप्}$; सवितारम् = ($\sqrt{\text{सू}} + \text{तृच्}$) सवितृ शब्द द्वि०वि०एक०; ऐक्षत = $\sqrt{\text{ईक्ष्}} \text{लङ् ल०प्र०पु०एक०}$ ।

अलंकारः-परिकर

छन्दः-वंशस्थ ।



21. प्रसंगः-इस प्रकार की कठोर तपस्या में लीन पार्वती को किसी प्रकार का कोई कष्ट नहीं हुआ । इसके विपरीत उसके मुख की कान्ति और भी अधिक विकसित हो उठी -

तथातितप्तं सवितुर्गभस्तिभि-

मुखं तदीयं कमलश्रियं दधौ ।

अपाङ्गयोः केवलमस्य दीर्घयोः,

शनैः शनैः श्यामिकया कृतं पदम् ॥21॥

अन्वयः-तथा सवितुः गभस्तिभिः अतितप्तं तदीयं मुखं कमलश्रियं दधौ, केवलं अस्य दीर्घयोः अपाङ्गयोः शनैः शनैः श्यामिकया पदं कृतम् ।

सङ्गीविनी टीकाः-तथेति ॥ सवितुः सूर्यस्य गभस्तिभिः किरणैः तथा पूर्वोक्तप्रकारेण अतितप्तं संतप्तं तस्या इदं तदीयं मुखं कमलश्रियं कमलस्य शोभां दधौ प्राप । यथा रवितापात्कमलं न म्लायति प्रत्युत विकसति तथा तदीयं मुखमासीदिति भावः । किं तु अस्य मुखस्य दीर्घयोः अपाङ्गयोः केवलं नेत्रान्तयोरेव शनैः शनैः मन्दं मन्दं श्यामिकया कालिम्ना पदं स्थानं कृतम् । तयोः सौकुमार्यादित्यर्थः ।

शब्दार्थः-तथा = उस प्रकार से, सवितुः = सूर्य की, गभस्तिभिः = किरणों

के द्वारा, अतितप्तम् = अत्यन्त तपे हुए, तदीयम् = उसके, मुखम् = मुख ने, कमलश्रियम् = कमल की शोभा को, दधौ = धारण कर लिया, केवलम् = केवल, अस्य = इसके, दीर्घयोः = बड़ी, अपाङ्गयोः = आँखों के कोनों में, शनैः शनैः = धीरे-धीरे, श्यामिकया = काले चिह्न ने, पदम् = स्थान, कृतम् = प्राप्त कर लिया।

अनुवादः—उस प्रकार सूर्य की किरणों के द्वारा अत्यन्त सन्तप्त होने पर उसके मुख ने कमल की शोभा को धारण कर लिया। और केवल इसकी बड़ी आँखों के कोनों में धीरे-धीरे कालिमा ने स्थान प्राप्त कर लिया।

Eng. Trans.:- (Then) her face, greatly scorched by the rays of the sun in that manner, bore the beauty of a day-lotus; but gradually, only round the long corners of her eyes, dark colour made its appearance.

व्याख्याः—सूर्य की ओर मुख करके तपस्या करते हुए पार्वती के मुख के सौन्दर्य के बढ़ने का वर्णन करते हुए कवि कह रहे हैं कि जिस प्रकार सूर्य की किरणों में तेज से कमल खिल उठता है और नवीन शोभा को प्राप्त करता है, उसी प्रकार पार्वती का मुख सूर्य की किरणों के तेज से मलिनता को प्राप्त नहीं हुआ अपितु पहले की अपेक्षा और अधिक शोभा को प्राप्त हुआ। केवल उसके नेत्रों के प्रान्तभाग अवश्य काले हो गये परन्तु इस कालिमा से भी उसके सौन्दर्य में कुछ न्यूनता नहीं आई अपितु उनका सौन्दर्य और अधिक बढ़ गया।

व्याकरणात्मक टिप्पणीः—

सन्धिः—तथातितप्तम् = तथा + अतितप्तम्, सवितुर्गभस्तिभिर्मुखम् = सवितुः + गभस्तिभिः + मुखम्।

समासः—अतितप्तम् = अत्यन्तं तप्तम् इति (सुप्सुपा स०); कमलश्रियम् = कमलस्य श्रीः (ष०त०) ताम्।

पदपरिचयः—सवितुः = √सू + तृच् = सवितृ शब्द ष०वि०एक०; तदीयम् = तद् + छ (ईय) प्रत्यय प्र०वि०एक०; दधौ = √धा लिट् ल०प्र०पु०एक०; श्यामिकया = श्याम + कन् + टाप् तृ०वि०एक०; कृतम् = √कृ + क्त प्र०वि०एक०।

छन्दः—वंशस्थ।



22. प्रसंगः—अब पार्वती के व्रत में निराहारता का योग हो गया -

अयाचितोपस्थितमम्बु केवलं

रसात्मकस्योडुपतेश्च रश्मयः ।

बभूव तस्याः किल पारणाविधि-

न वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः ॥ 22 ॥

अन्वयः—अयाचितोपस्थितं केवलम् अम्बु, रसात्मकस्य उडुपतेः रश्मयश्च, तस्याः पारणाविधिः वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः किल न बभूव ।

सञ्जीविनी टीकाः—अयाचितेति ॥ अयाचितोपस्थितम् अप्रार्थितोपनतं केवलम् अम्बु उदकं रसात्मकस्य अमृतमस्य उडुपतेः उडूनां नक्षत्राणां पतिश्चन्द्रस्तस्य रश्मयः च तस्याः पार्वत्याः पारणाविधिः अभ्यवहारकर्म बभूव । तावन्मात्रसाधनकोऽभूदित्यर्थः । साध्यसाधनयोरभेदेन व्यपदेशः साधनान्तरव्यावृत्त्यर्थः । किल इति प्रसिद्धौ । वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः वृक्षाणां या वृत्तिर्जीवनोपायस्तदव्यतिरिक्तं साधनमुपायो यस्य स तथोक्तः पारणाविधिः न बभूव । वृक्षोऽप्ययाचितोपस्थितेन मेघोदकेनेन्दुकिरणैश्च जीवतीति प्रसिद्धम् । अम्बिकापि तावन्मात्रमेवात्मबतेत्यर्थः ।

शब्दार्थः—केवलम् = केवल, अयाचितोपस्थितम् = बिना मांगे प्राप्त, अम्बु = जल, रसात्मकस्य = अमृतमय या जलमय, उडुपतेः = चन्द्रमा की, रश्मयः = किरणें, च = और, तस्याः = उस (पार्वती) का, पारणाविधिः = व्रतान्त भोजन, वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः = वृक्षों की आजीविका से अलग उपाय, किल न = नहीं, बभूव = हुआ ।

अनुवादः—केवल बिना मांगे प्राप्त जल और रश्मय चन्द्रमा की किरणें उस (पार्वती) का व्रतान्त भोजन वृक्षों की जीविका के साधनों से अलग नहीं हुआ ।

Eng. Trans.:—Only the water that came to her without any effort on her part, and the rays of the moon (*lit.* Lord of the constellations), full of nectar, broke her fast, the means being not different from those by which trees subsist.

व्याख्याः—तपस्विनी पार्वती की भोजनादि व्यवस्था का वर्णन करते हुए कवि कह रहे हैं कि पार्वती ने सम्पूर्ण ग्रीष्मकाल पर्यन्त निराहार व्रत किया । गर्मी की समाप्ति पर वर्षा का जल ही उसका पानीय हुआ और दिन में कुछ न खाने

पर भी रात्रि के समय अमृतमयी चाँदनी ही उसकी खाद्य वस्तु थी। जैसे वृक्ष अपने जीवन के निर्वाह के लिए केवल वर्षा का जल और चन्द्रमा की किरणों का ही उपभोग करते हैं वैसे ही पार्वती भी अपने प्राणों के निर्वाह के लिए वर्षा का जल और चन्द्रमा की किरणों का ही प्रयोग करती थी। इस प्रकार उसका भोजन वृक्षों के भोजन से अलग नहीं था अर्थात् वृक्षों के समान ही था। इस श्लोक में पार्वती की तपस्या की पराकाष्ठा का स्पष्ट दर्शन होता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धि:-रसात्मकस्योडुपतेश्च = रसात्मकस्य + उडुपतेः + च।

समास:-अयाचितोपस्थितम् = न याचितम् इति अयाचितम् (नञ् त०), अयाचितं च तत् उपस्थितम् (कर्म०); रसात्मकस्य = रसः आत्मा यस्य सः (बहु०) तस्य; उडुपतेः = उडूनां पतिः (ष०त०) तस्य; पारणाविधिः = पारणायाः विधिः (ष०त०); वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः = वृक्षाणां वृत्तिः इति वृक्षवृत्तिः (ष०त०), वृक्षवृत्तेः व्यतिरिक्तं साधनं यस्य सः (बहु०)।

पदपरिचय:-अयाचित = नञ् + याच् + क्त; उपस्थितम् = उप + √स्था + क्त प्र०वि०एक०; साधनः = √साध् + ल्युट् प्र०वि०एक०; बभूव = √भू लिट् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकार:-परिसंख्या

छन्द:-वंशस्थ।



13. प्रसंग:-प्रथम वर्षा की बूंदों के गिरने से जैसे पृथ्वी से वाष्प निकलकर ऊपर की ओर जाती है उसी प्रकार पार्वती के शरीर पर भी बूंदों के गिरने से वाष्प निकला करती थी -

निकामतप्ता विविधेन वह्निना,

नभश्चरेणेन्धनसंभृतेन सा।

तपात्यये वारिभिरुक्षिता नवै-

भुवा सहोष्माणममुञ्चदूर्ध्वगम्॥23॥

अन्वय:-नभश्चरेण इन्धनसंभृतेन विविधेन वह्निना निकामतप्ता सा तपात्यये नवैः वारिभिः उक्षिता सती, भुवा सह उर्ध्वगम् रुष्माणम् अमुञ्चत्।

सञ्जीविनी टीकाः—निकामेति ।। विविधेन पंचविधिनेत्यर्थः । नभश्चरेण खेचरेण । आदित्यरूपेणेत्यर्थः । इन्धनसंभृतेन काष्ठसिद्धेन वह्निना निकामतप्ता निकाममत्यन्तं तप्ता सा अम्बिका तपात्यये ग्रीष्मान्ते, प्रावृषीत्यर्थः । नवैः वारिभिः उक्षिता सिक्ता सती भुवा पंचाग्नितप्तया सह ऊर्ध्वगम् ऊर्ध्वं प्रसृतम् ऊष्माणं वाष्पम् अमुञ्चत् । 'ग्रीष्मोष्वाष्पम् ऊष्माणम्' इति यादवः ।

शब्दार्थः—नभश्चरेण = आकाश में चलने वाली, इन्धनसम्भृतेन = लकड़ी से प्रज्वलित, विविधेन = अनेक प्रकार की, वह्निना = अग्नि से, निकामतप्ता = अन्यन्त सन्तप्त होकर, सा = वह (पार्वती), तपात्यये = तप की समाप्ति पर (ग्रीष्मकाल के अन्त में), नवैः = नवीन, वारिभिः = वर्षा के जल से, उक्षिता = सींची गई, भुवा = पृथ्वी के, सह = साथ, ऊर्ध्वगम् = ऊपर की ओर, ऊष्माणम् = वाष्प को, अमुञ्चत् = छोड़ने लगी ।

अनुवादः—नभ में चलने वाली, ईंधन से प्रज्वलित नाना प्रकार (पाँच प्रकार) की अग्नियों के द्वारा अत्यधिक सन्तप्त हुई वह (पार्वती) तपस्या की समाप्ति पर (ग्रीष्म ऋतु के अन्त में) नवीन जल बिन्दुओं से सींची गई हुई पृथ्वी के साथ ऊपर की ओर जाने वाली वाष्प को छोड़ने लगी ।

Eng. Trans.:—She extremely heated by various fires—the one wandering in the sky and those lighted by means of fuel, and being drenched with the fresh showers at the end of the summer, gave out, along with the earth, (reeking) heat that ascended upwards.

व्याख्याः—ग्रीष्म ऋतु में तपस्या करती हुई पार्वती का वर्णन करते हुए कवि कह रहे हैं कि ग्रीष्म ऋतु के अन्त में अत्यन्त तपी हुई पृथ्वी के ऊपर जब वर्षा की प्रथम बूंदें गिरती हैं, तो सन्तप्त पृथ्वी से भाप निकलने लगती है । ठीक इसी प्रकार तप सम्बन्धी पञ्चाग्नि से अत्यन्त सन्तप्त शरीर वाली पार्वती के ऊपर भी जब प्रथम वर्षा की बूंदें गिरती थीं तब उसके शरीर से भी भाप निकलती थी । कहने का तात्पर्य यह है कि उसका शरीर इतना अधिक तप्त हो गया था कि उसकी गर्मी के कारण उसके शरीर के ऊपर गिरा हुआ वर्षा का जल वाष्प के रूप में परिवर्तित हो जाता था ।

व्याकरणात्मक टिप्पणीः—

सन्धिः—नभश्चरेणेन्धनसम्भृतेन = नभश्चरेण + इन्धनसम्भृतेन, वारिभिरुक्षिता

= वारिभिः + उक्षिता, नवैर्भुवा = नवैः + भुवा, सहोष्माणममुञ्चदूर्ध्वगम् = सह + ऊष्माणम् + अमुञ्चत् + ऊर्ध्वगम्।

समासः-नभश्चरेण = नभसि चरतीति नभश्चरः (स०त०) तेन; इन्धनसम्भृतेन = इन्धनैः सम्भृतः (तृ०त०) तेन; निकामतप्ता = निकामं तप्ता (सुप्सुपा स०); विविधेन = विविधा विधा यस्य सः (बहु०) तेन; तपात्यये = तपस्य अत्ययः इति तपात्ययः (ष०त०) तस्मिन्; ऊर्ध्वगम् = ऊर्ध्वं गच्छतीति ऊर्ध्वगः (उपपद त०), तम्।

पदपरिचयः-नभश्चरेण = नभस् + √चर् + ट, तृ०वि०एक०; इन्धनसम्भृतेन = इन्धन + सम् + √भृ + क्त तृ०वि०एक०; तपात्यये = तप + अति + √इण् + अच् स०वि०एक०; वारिभिः = वारि शब्द तृ०वि०बहु०; ऊष्माणम् = ऊष्मन् शब्द द्वि०वि०एक०; √उक्षिता = √उक्ष् + इट् + क्त प्र०वि०एक०; ऊर्ध्वगम् = ऊर्ध्व + √गम् + ड द्वि०वि०एक०; अमुञ्चत् = √मुञ्च लङ् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकारः-सहोक्ति

छन्दः-वंशस्थ।



24. प्रसंग-इस प्रकार ग्रीष्मकालीन पार्वती के तप का वर्णन करने के बाद अब कवि पार्वती के वर्षाकालीन तप का वर्णन करते हैं-

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः,

पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।

वलीषु तस्याः स्वलिताः प्रपेदिरे

चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः॥24॥

अन्वयः-प्रथमोदबिन्दवः तस्याः पक्ष्मसु क्षणं स्थितां ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः वलीषु स्वलिताः चिरेण नाभिं प्रपेदिरे।

सङ्गीविनी टीकाः-स्थिता इति॥ प्रथमोदबिन्दवः उदकस्य बिन्दवः उदबिन्दवः। मन्थौदनं इत्यादिनोदकशब्दस्योदादेशः। प्रथमे उदबिन्दवः। प्रथमविशेषणादबिन्दुनां विरलत्वं बहुवचनान्नातिविरलत्वं च गम्यते। तथा च चिरन्तनाभ्यन्तरगमनयोर्निर्वाहः। तस्याः पार्वत्याः पक्ष्मसु नेत्रलोमसु क्षणं स्थिताः स्थितिं गताः। स्थिता इत्यनेन पक्ष्मणां सान्द्रत्वं क्षणमिति स्नैग्ध्यं च गम्यते।

अनन्तरं ताडिताधराः ताडितो व्यथितोऽधर ओष्ठो यैस्ते तथोक्ताः। एतेनाधरस्य मार्दवं गम्यते। ततः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः पयोधरयोः स्तनयोः उत्सेधे उपरिभागे निपातेन पतनेन चूर्णिता जर्जरिताः। कुचकाठिन्यादिति भावः। तदनु वलीषु उदरेखासु स्खलिताः। निम्नोन्नतत्वादिति भावः। इत्थं चिरेण न तु शीघ्रम्। प्रतिबन्धबाहुल्यादिति भावः। नाभिं प्रपेदिरे प्रविष्टाः न तु निर्जग्मुः। एतेन नाभेर्गाम्भीर्यं गम्यते। अत्र प्रतिपदमर्थवत्वात्परिकरालंकारः।

शब्दार्थः—प्रथमोदबिन्दवः = पहली वर्षा की बूंदें, तस्याः = उस(पार्वती) की, पक्ष्मसु = पलकों में, क्षणम् = क्षण भर के लिए, स्थिताः = ठहरीं, ताडिताधराः = होठों को ताडित किया, पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः = स्तनों के उन्नत अग्रभाग पर गिरने से चूर-चूर हुई, वलीषु = उदरेखाओं पर, स्खलिताः = गिरीं, चिरेण = बहुत देर से, नाभिम् = नाभि प्रदेश में, प्रपेदिरे = प्रविष्ट होती थीं।

अनुवादः—प्रथम जल की बूंदें उस(पार्वती) की पलकों पर क्षण भर के लिए टिकीं, अधरों पर आघात पहुँचाया, स्तनों के उन्नत अग्रभाग पर टकराने के कारण चूर-चूर हुई, उदरेखाओं पर गिरीं और बहुत देर से नाभि को प्राप्त करती थीं।

Eng. Trans.:—The drops of first water (showers) rested for a moment on her eye-lashes; then striking against the nether lip, broke as they fell on the elevation of her breast; and thence, stumbling through the (three) folds of her skin, reached, after a long delay her navel.

व्याख्या:—वर्षा ऋतु में तपस्या में लीन पार्वती का वर्णन करते हुए कवि कह रहे हैं कि पार्वती कठोर तपस्या में संलग्न होने के कारण वर्षा काल में भी खुली हुई भूमि पर ही तपस्या करती थीं। अतः आकाश से गिरती हुई वर्षा के जल की बूंदें सबसे पहले उसकी आँखों की पलकों के ऊपर गिरती थीं और नेत्र रोमों के घने होने के कारण जलबिन्दु उनमें आकर उलझ जाते थे और चिकना होने के कारण ये बूंदें अधिक समय तक उन बरौनियों में ठहर नहीं पाती थीं। और फिसलकर फिर निचले ओष्ठ के ऊपर गिरा करती थीं और फिर वहाँ से कठिन एवं उठे हुए उसके स्तनों के अग्रभाग से टकराकर एवं चूर्ण-चूर्ण होकर वे बूंदें पेट की त्रिवलियों में क्रमशः फिसलती हुई, अन्त में उसकी गहरी नाभि के अन्दर प्रविष्ट हो जाती थीं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

समासः—प्रथमोदबिन्दवः = उदकस्य बिन्दवः इति उदबिन्दवः (ष०त०), प्रथमे च ते उदबिन्दवः (कर्म०); ताडिताधराः = ताडितः अधरः यैः ते (बहु०); पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः = पयोधरयोः उत्सेधः इति पयोधरोत्सेधः (ष०त०), पयोधरोत्सेधे निपातेन चूर्णिताः (स०त०, तृ०त०) ।

पदपरिचयः—स्थिताः = $\sqrt{\text{स्था}}$ + क्त प्र०वि०बहु०; चूर्णिताः = चूर्ण् + क्त प्र०वि०बहु०; वलीषु = वल + इनि + डीप् स्त्री०संवि०बहु०; स्खलिताः = $\sqrt{\text{स्खल्}}$ + क्त प्र०वि०बहु०; प्रपेदिरे = प्र + $\sqrt{\text{पद्}}$ लिट् ल० प्र०पु०बहु० ।

अलंकारः—परिकर

छन्दः—वंशस्थ ।



25. प्रसंगः—वर्षा ऋतु में भी उसका कठोर तप अत्यन्त प्रशंसनीय ही था—

शिलाशयां तामनिकेतवासिनीं,

निरन्तरास्वन्तरवातवृष्टिषु ।

व्यलोकयन्नुन्मिषितैस्तडिन्मयै-

महातपः साक्ष्य इव स्थिताः क्षपाः ॥25॥

अन्वयः—निरन्तरासु अन्तरवातवृष्टिसु अनिकेतवासिनीं शिलाशयां तां महातपः साक्ष्ये स्थिताः क्षपा तडिन्मयैः उन्मिषितैः व्यलोकयन् इव ।

सङ्गीविनी टीका—शिलाशयामिति ॥ निरन्तरासु नीरन्ध्रासु अन्तरे मध्ये वातो यासां तादृश्यो या वृष्टयस्तासु अन्तरवातवृष्टिषु । न निकेते गृहे वसतीति अनिकेतवासिनीम् । अनावृतदेशवासिनीमित्यर्थः । शिलायां शेत इति शिलाशयां शिलातलशायिनीम् । 'अधिकरणे शेतेः' इत्यञ्प्रत्ययः । तां पार्वतीं महातपः साक्ष्ये साक्षाद्द्रष्टु साक्षी । 'साक्षाद्द्रष्टरिसंज्ञायाम्' इतीनिप्रत्ययः । तस्य कर्म साक्ष्यम् । महातपसः साक्ष्ये स्थिताः क्षपाः तडिन्मयैः विद्युदूपैः उन्मिषितैः अवलोकनैः व्यलोकयन् इव । इवेति चक्षुषा विलोकनमेवोत्प्रेक्ष्यते । साक्ष्यं तु 'आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च । अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥' इति प्रमाणसिद्धत्वान्नोत्प्रेक्ष्यमित्यनुसंधेयम् ।

शब्दार्थः—निरन्तरासु = लगातार, अन्तरवातवृष्टिषु = वायु के मध्य में होने

वाली वर्षा में, अनिकेतवासिनीम् = बिना घर के रहने वाली, शिलाशयाम् = चट्टानों (शिला) पर शयन करने वाली, ताम् = उस(पार्वती) को, महातपः साक्ष्ये = महान् तपस्या की साक्षी में, स्थिताः = स्थित, क्षपा = रात्रियाँ, तडिन्मयैः = बिजली रूपी, उन्मिषितैः = आँखें खोलने से, व्यलोकयन् इव = मानो देखने लगीं।

अनुवादः—निरन्तर वायु के मध्य में होने वाली वर्षा में बिना घर के रहने वाली, चट्टानों पर शयन करने वाली उस(पार्वती) को (उसकी) कठोर तपस्या की गवाही में स्थित रात्रियाँ मानो (अपने) विद्युत् रूपी आँखों के द्वारा देखा करती थीं।

Eng. Trans.—The nights, the witnesses of the rigid penance of her who slept on a (bare) stone-slab, and who lived in open space (*lit.* not under a sheltered roof) and in the midst of unceasing showers accompanied by winds, watched her, as it were, with their glances in the shape of lightning (-flashes).

व्याख्या—खुले स्थान में तपस्या करती हुई पार्वती का वर्णन करते हुए कवि कह रहे हैं कि वर्षा ऋतु में जब लगातार जल बरसा करता था, वायु भी बड़ी तीव्र गति से बहा करती थी, बिजलियाँ भी चमका करती थीं, तब ऐसे भीषण समय में भी पार्वती खुले स्थान में पर्वत की चट्टान पर शयन किया करती थी। तब उस निर्जन वन में उसकी कठोर तपस्या को देखने वाला अन्य कोई भी नहीं था, केवल रात्रियाँ ही पार्वती की कठोर तपस्या की साक्षी थीं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि—निरन्तरास्वन्तरवातवृष्टिषु = निरन्तरासु + अन्तरवातवृष्टिषु; व्यलोकयन्नुन्मिषितैस्तडिन्मयैर्महातपः = व्यलोकयन् + उन्मिषितैः + तडिन्मयैः + महातपः; साक्ष्य इव = साक्ष्ये + इव।

समास—निरन्तरासु = निर्गतम् अन्तरं याभ्यः ताः (बहु०) तासु; अन्तरवातवृष्टिषु = अन्तरे वातः यासां ताः इति अन्तरवाताः (बहु०); अन्तरवाताः च ताः वृष्टयः (कर्म०) तासु; अनिकेतवासिनीम् = निकेते वसतीति निकेतवासिनी (उप०त०), न निकेतवासिनी (नञ् त०) ताम्; शिलाशयाम् = शिलायाम् शेते इति शिलाशया (उप०त०) ताम्; महातपःसाक्ष्ये = महच्च तत् तपः महातपः (कर्म०), महातपसः साक्ष्यम् (ष०त०) तस्मिन्।

पदपरिचयः—अनिकेतवासिनीम् = नञ् + नि + √कित् + अच् + √वस् + णिनि + डीप् द्वि०वि०एक०; साक्ष्ये = साक्षिन् + ष्यञ् स०वि०एक०; स्थिताः = √स्था + क्त + टप् प्र०वि०बहु०; तडिन्मयैः = तडित् + मयट् तृ०वि०बहु०; उन्मिषितैः = उत् + √मिष् + क्त तृ०वि०बहु०; व्यलोकयन् = वि + √लोक् लङ् ल०प्र०पु० बहु० ।

अलंकारः—उत्प्रेक्षा

छन्दः—वंशस्थ ।



26. प्रसंगः—इसके अनन्तर हेमन्त ऋतु में भी उसकी तपस्या दर्शनीय हो थी —

निनाय सात्यन्तहिमोत्किरानिलाः,

सहस्यरात्रीरुदवासतत्परा ।

परस्पराक्रन्दिनि चक्रवाकयोः,

पुरो वियुक्ते मिथुने कृपावती ॥ 26 ॥

अन्वयः—सा अत्यन्तहिमोत्किरानिलाः सहस्यरात्रीः उदवासतत्परा परस्पराक्रन्दिनि पुरः वियुक्ते चक्रवाकयोः मिथुने कृपावती सती निनाय ।

सञ्जीविनी टीकाः—निनायेति ॥ सा पार्वती । अत्यन्तहिमोत्किरानिलाः उत्किरन्ति क्षिपन्तीत्युत्किराः । 'इगुपधज्ञा'—इत्यादिना कः । अत्यन्तं हिमानामुत्किरा अनिला यासु ताः । सहस्यरात्रीः पौषरात्रीः 'पौषे तैषसहस्यौ द्वौ' इत्यमरः । उदवासतत्परा उदके वास उदवासः । 'पेषवासवाहनधिषु च' इत्युदादेशः । उदवासे तत्परा आसक्ता तथा परस्पराक्रन्दिनि परस्पराक्रन्दिन्यन्योन्यमाक्रोशिनि पुरः अग्रे वियुक्ते विरहिणि । वियोगप्राप्ते इति यावत् । चक्रवाकी च चक्रवाकश्च चक्रवाकौ तयोः चक्रवाकयोः मिथुने द्वन्द्वे कृपावती सती निनाय । दुःखिषु कृपालुत्वं महतां स्वभाव इति चक्रवाकमिथुने कृपा न तु कामितयेति वाच्यानवकाशः । 'अप्सु वासस्तु हेमन्तु क्रमशो वर्धयेत्तपः ।' इति मनुः ।

शब्दार्थः—सा = वह (पार्वती), अत्यन्तहिमोत्किरानिलाः = अत्यधिक बर्फ की वर्षा करने वाली वायु से युक्त, सहस्यरात्रीः = पौष मास की रात्रियों को, उदवासतत्परा = जल में खड़ी रहने वाली, परस्पराक्रन्दिनि = एक दूसरे को

पुकारते हुए, पुरः = सामने, वियुक्ते = बिछड़े हुए, चक्रवाकयोः = चकवा और चकवी के, मिथुने = जोड़े पर, कृपावती = दया दिखलाती हुई, निनाय = ध्वतीत करती थी।

अनुवादः—वह (पार्वती) अत्यधिक बर्फ की वर्षा करने वाली वायु से युक्त (शीतल) पौष मास की रात्रियों को, जल में खड़ी होकर, एक दूसरे से मिलने के लिए चिल्लाते हुए, (अपने) सामने एक दूसरे से बिछड़े हुए चकवा और चकवी के जोड़े पर दया दिखलाती हुई व्यतीत करती थी।

Eng. Trans.—Determinately, standing in water, she passed the nights of Paushā (cold season) when the (winter) winds scattered around a thick mass of snowy sleet, pitying the pair of the Chakravāka birds (which stood) before her, separated and crying for each other.

व्याख्याः—शीतकाल में जल में खड़े होकर पार्वती के तपस्या करने का वर्णन करते हुए कवि कह रहे हैं कि पार्वती हेमन्त ऋतु की हिम सदृश शीतल वायु से युक्त रात्रियों को भी शीतल जल में खड़े होकर बिताती थी। ऐसा करने से उसका तप निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हो रहा था। तप के बढ़ने के कारण उसके हृदय में करुणा के भाव जागृत हो गए थे। अतः वह जब रात्रि में परस्पर एक दूसरे से मिलने के लिए चिल्लाते हुए वियोगी चकवा-चकवी के जोड़े के आक्रन्दन को सुनती थी तब वह उनके प्रति अत्यधिक दया के भाव प्रकट करती थी। भाव यह है कि रात्रि के समय चकवा-चकवी के जोड़े की वियोगावस्था तथा परस्पर एक दूसरे से मिलने की इच्छा के कारण उन्हें चिल्लाते हुए देखकर पार्वती का हृदय दया से भर जाता था और उसकी पूर्ण सहानुभूति उस जोड़े के प्रति होती थी क्योंकि इस पक्षी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसका जोड़ा सम्पूर्ण दिन साथ-साथ रहता है तथा रात्रि में दोनों एक दूसरे से बिछड़ जाते हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणीः—

सन्धिः—सात्यन्तहिमोत्किरानिलाः = सा + अत्यन्तहिमोत्किरानिलाः;
सहस्यरात्रीरुदवासतत्परा = सहस्यरात्रीः + उदवासतत्परा।

समासः—अत्यन्तहिमोत्किरानिलाः = उत् किरन्तीति उत्किराः (उप०त०),
हिमानाम् उत्किराः हिमोत्किराः (ष०त०), अत्यन्तं हिमोत्किराः अनिलाः यासु
ताः (बहु०); सहस्यरात्रीः = सहस्यस्य रात्रयः इति सहस्यरात्रयः (ष०त०) ताः;

उदवासतत्परा = तदेव परं प्रधानं यस्याः सा इति तत्परा (बहु०), उदके वासः
उदवासः (स०त०) उदवासे तत्परा इति उदवासतत्परा (स०त०); परस्पराक्रन्दिनि
= परम् परम् इति परस्परम्, परस्परम् आक्रन्दतीति परस्पराक्रन्दि (उप०त०)
तस्मिन्; चक्रवाकयोः = चक्रवाकी च चक्रवाकश्च इति चक्रवाकौ (द्वन्द्व स०)
तयोः।

पदपरिचयः—आक्रन्दिनि = आ + √क्रन्द् + णिनि, स०वि०एक०; वियुक्ते
= वि + √युज् + क्त स०वि०एक०; कृपावती = कृपा + वतुप् + डीप् प्र०वि०एक०;
निनाय = √नी लिट् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकारः—परिकर

छन्दः—वंशस्थ।



27. प्रसंगः—इतनी कठोर तपस्या करने पर भी पार्वती का मुख पूर्णतया
उज्ज्वल, निर्मल तथा सौन्दर्य की आभा से युक्त ही दिखलाई पड़ता था -

मुखेन सा पद्मसुगन्धिना निशि,

प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना।

तुषारवृष्टिक्षतपद्मसम्पदां,

सरोजसन्धानमिवाकरोदपाम् ॥27॥

अन्वयः—सा निशि पद्मसुगन्धिना प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना मुखेन
तुषारवृष्टिक्षतपद्मसम्पदाम् अपां सरोजसन्धानम् अकरोत् इव।

सञ्जीविनी टीकाः—मुखेनेति ॥ सा पार्वती निशि रात्रौ पद्मत्वसुगन्धिना
सुरभिणा। 'गन्धस्येत्'— इत्यादिनेकारः। प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना प्रवेपमानः
कम्पमानोऽधर ओष्ठ एव पत्रं दलं तेन शोभत इति तथोक्तेन मुखेन
तुषारवृष्टिक्षतपद्मसंपदां तुषारवृष्ट्या तुहिनवर्षेण क्षता नाशिताः पद्मसंपदो यासां
तासाम् अपां सरोजसंधानं पद्मसंघट्टनम् अकरोद् इव। इत्युत्प्रेक्षालंकारः। पद्मान्तरं
तुहिनेनोपहन्यते तन्मुखपद्मं तु न तथेति व्यतिरेकालंकारो व्यज्यते इत्युभयोः संकरः।

शब्दार्थः—सा = वह (पार्वती), निशि = रात्रि में, पद्मसुगन्धिना = कमल के
समान सुगन्धित, प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना = काँपते हुए पत्र रूपी अधरोष्ठ से
सुशोभित, मुखेन = मुख से, तुषारवृष्टिक्षतपद्मसम्पदाम् = बर्फ की वर्षा से नष्ट

हुई कमल रूपी सम्पत्ति वाले, अपाम् = जलों को; सरोजसन्धानम् = कमल की परम्परा को, अकरोत् इव = मानो स्थापित करती थी।

अनुवादः—वह(पार्वती) रात्रि में कमल के समान सुगन्धित, अत्यधिक काँपते हुए पत्र रूपी अधरोष्ठ से शोभायमान मुख से, बर्फ की वर्षा से नष्ट हुई कमल रूपी सम्पत्ति वाले जलों में मानो (पुनः नए) कमल की परम्परा को बनाती थी।

Eng. Trans.—By her face, which was as fragrant as the lotus (itself) and which shone with the quivering leaf of the nether lip, she at night restored the (beauty of) lotuses to the waters (of the stream), the wealth of lotuses of which was destroyed by the showers of snow.

व्याख्याः—जल में खड़े होकर तपस्या करती हुई देवी पार्वती के मुख-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि कह रहे हैं कि जाड़े की रात्रि में जल में रहते समय पार्वती का केवल मुख ही दिखलाई पड़ता था। शीत के कारण उसका ओष्ठ रूपी दल कम्पन करता था तथा कमल के समान सुगन्धित श्वास से वह दिशाओं को सुगन्धित करती थी। ऐसी प्रतीत होता था कि मानो हेमन्त ऋतु में कमलों के नष्ट हो जाने पर पार्वती के मुख रूपी कमल से ही उस सरोवर की कमल सम्पत्ति अटूट रह गई हो। भाव यह है कि पार्वती जिस सरोवर में तपस्या कर रही थी उस सरोवर के कमल हिम की वर्षा के कारण नष्ट हो गए थे। उनके नष्ट हो जाने के कारण तालाब के जल की शोभा भी समाप्त प्राय हो गई थी। पार्वती का मुख तो कमल के समान सौन्दर्य से युक्त था। तालाब के जल में जब उसकी प्रतिच्छया पड़ती थी तो वह प्रतिबिम्ब भी साक्षात् कमल ही प्रतीत होता था। अतः कवि ने यहाँ उत्प्रेक्षा की है कि मानो पार्वती ने अपने मुख से तालाब के जल की शोभा को पूर्ण कर दिया था, सौन्दर्य के अतिरिक्त कमल की सुगन्धि से भी उस पार्वती का मुख सुगन्धित था तथा जिस प्रकार कमल की पंखुड़ियाँ हिलती हैं उसी प्रकार सर्दी की अधिकता के कारण पार्वती के नीचे का ओष्ठ भी कम्पन करता था। इस प्रकार पार्वती का मुख सौन्दर्य में कमल की अपेक्षा किसी भी दशा में कम न था।

व्याकरणात्मक टिप्पणीः—

सन्धिः—सरोजसन्धानमिवाकरोदपाम् = सरोजसन्धानम् + इव + अकरोत् + अपाम्।

समासः—पद्मसुगन्धिना = शोभनः गन्धः यस्य तत् सुगन्धि (बहु०), पद्ममिव सुगन्धिः इति पद्मसुगन्धिः (उपमित त०) तेन; प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना = अधर एव पत्रम् इति अधरपत्रम् (कर्म०), प्रवेपमानम् अधरपत्रम् इति प्रवेपमानाधरपत्रम् (कर्म०), तेन शोभते इति (तृ०त०); तुषारवृष्टिक्षतपद्मसम्पदाम् = तुषारस्य वृष्टिः इति तुषारवृष्टिः (ष०त०), पद्मानि एव सम्पदः इति पद्मसम्पदः (कर्म०), तुषारवृष्ट्या क्षताः पद्मसंपदः यासां ताः (बहु०) तासाम्; सरोजसन्धानम् = सरसि जातानि इति सरोजानि (स०त०), सरोजानां सन्धानम् (ष०त०)।

पदपरिचयः—शोभिना = $\sqrt{\text{शुभ}} + \text{णिनि तृ०वि०एक०}$; अपाम् = अप् शब्द ष०वि०बहु०; सरोज = सरस् + $\sqrt{\text{जन्}} + \text{ड}$; सन्धानम् = सम् + $\sqrt{\text{धा}} + \text{ल्युट् प्र०वि०एक०}$; अकरोत् = $\sqrt{\text{कृ}} \text{ लङ् ल०प्र०पु०एक०}$ ।

अलंकारः—उत्प्रेक्षा एवं व्यतिरेक

छन्दः—वंशस्थ।



28. प्रसंगः—अब पार्वती का तप चरम सीमा पर पहुँच रहा था -

स्वयंविशीर्णदुमपर्णवृत्तिता,

परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः।

तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां,

वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः॥28॥

अन्वयः—स्वयं विशीर्णदुमपर्णवृत्तिता तपसः पराकाष्ठा हि। तया पुनः तत् अपि अपाकीर्णम्। अतः प्रियंवदां तां पुराविदः अपर्णा इति च वदन्ति।

सञ्जीविनी टीकाः—स्वयमिति॥ स्वयं विशीर्णदुमपर्णवृत्तिता स्वयं विशीर्णानि स्वतश्च्युतानि दुमपर्णान्येव वृत्तिर्जीवनं यस्य तस्य भावस्तत्ता तपसः पराकाष्ठा परमुत्कर्षो हि। 'कष्टोत्कर्षे स्थितौ दिशि' इत्यमरः। तया देव्यो पुनः तत् पर्णवर्तनम् अपि अपाकीर्णम् अपाकृतम्। अतः पर्णापकरणाद्धेतोः। प्रियंवदां प्रियं वदतीति प्रियंवदा ताम्। 'प्रियवशे वदः खच्' इति खच्चत्ययः। 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इति मुमागमः। तां पार्वतीं पुराविदः पुराणज्ञास्तपः करणसमयेऽविद्यमानं पर्णभक्षणं यस्याः सा अपर्णा इति वदन्ति च। नामान्तरसमुच्चयार्थश्चकारः। स्वयं प्रियवदः परेषामपि प्रियवादभाजनानि भवन्तीति भावः। अत्र अपर्णाम् इत्यपपाठः,

इतिशब्दाभिहिते द्वितीयानुपपत्तेः। यथाह त्रामनः- 'निपातेनाप्यभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिः परिगणनस्य प्राधिकत्वात्' इति।

शब्दार्थः-स्वयम् = अपने आप, विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता = गिरे हुए वृक्षों के पत्तों से जीविका चलाना, तपसः = तपस्या की, पराकाष्ठा = अन्तिम सीमा, हि = निश्चित रूप से, तया = उस(पार्वती) ने, पुनः = फिर, तत् अपि = वह भी, अपाकीर्णम् = छोड़ दिया, अतः = इसलिए, प्रियंवदाम् = मधुरभाषिणी, ताम् = उसको, पुराविदः = पुराणेतिहास के जानकार, अपर्णा = अपर्णा (पत्तों को न खाने वाली), इति = इस नाम से, वदन्ति = बुलाते हैं।

अनुवादः-अपने-आप वृक्षों से गिरे हुए पत्तों पर निर्वाह करना निश्चित रूप से तपस्या की अन्तिम सीमा होती है, परन्तु उसने तो वह भी छोड़ दिया, इसलिए पुरातत्त्ववेत्ता उस मधुरभाषिणी (पार्वती) को 'अपर्णा' इस नाम से पुकारते हैं।

Eng. Trans.:—The sternest severity of austerities in subsisting on leaves fallen from the tree of their own accord; but that also she spurned; hence was that gentle-talker named Aparṇā by those conversant with history.

व्याख्याः-पार्वती के तप की पराकाष्ठा का वर्णन करते हुए कवि कह रहे हैं कि पत्तों को तोड़ने से वृक्षों को कष्ट होगा इस भय से पार्वती वृक्षों के पत्तों को भी नहीं तोड़ती थी। इसी कारण वह स्वयं गिरे हुए पत्तों को खाकर अपना जीवन निर्वाह करती थी जो तपस्या की अन्तिम सीमा थी अर्थात् स्वयं वृक्षों से गिरे हुए पत्तों को खाकर अपने शरीर का पोषण करना-यह सर्वोत्कृष्ट तप कहा जाता है किन्तु पार्वती ने तो उन पत्तों को खाना भी छोड़ दिया था और इस कठोर तपस्या में लगी रहने पर भी पार्वती सदैव प्रिय वचनों का ही व्यवहार करती थी, इसलिए विद्वानों द्वारा पार्वती को 'अपर्णा' अर्थात् पर्णों का भक्षण न करने वाली -इस नाम से भी पुकारा गया। वास्तव में 'अपर्णा' पार्वती के अनेक नामों में से एक है।

व्याकरणात्मक टिप्पणीः-

सन्धिः-तपसस्तया = तपसः + तया; तदप्यपाकीर्णमतः = तत् + अपि + अपाकीर्णम् + अतः; वदन्त्यपर्णेति = वदन्ति + अपर्णा + इति।

समासः-स्वयंविशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता = द्रुमानां पर्णानि इति द्रुमपर्णानि

(ष०त०), स्वयं विशीर्णानि द्रुमपर्णानि इति स्वयंविशीर्णद्रुमपर्णानि (कर्म०), तानि वृत्तिः यस्य सः (बहु०) तस्य भावः; प्रियंवदाम् = प्रियं वदतीति प्रियंवदा (उपपद त०) ताम्; पुराविदः = पुरा विदन्ति इति पुराविद् (उपपद त०); अपर्णा = न पर्णानि यस्याः सा (बहु०) ।

पदपरिचयः—वृत्तिता = $\sqrt{\text{वृत्}} + \text{क्तिन्} + \text{तल्} + \text{टप् प्र०वि०एक०}$; अपाकीर्णम् = अप + आ + $\sqrt{\text{क्}} + \text{क्त प्र०वि०एक०}$; प्रियंवदाम् = प्रिय + $\sqrt{\text{वद्}} + \text{खच्} + \text{टप् द्वि०वि०एक०}$; पुराविदः = पुरा + $\sqrt{\text{विद्}} + \text{क्विप् प्र०वि०बहु०}$; वदन्ति = $\sqrt{\text{वद् लट् ल०प्र०पु०बहु०}}$ ।

अलंकारः—काव्यलिङ्ग

छन्दः—वंशस्थ ।



29. प्रसंगः—इस प्रकार के अपने कठोर तप के द्वारा पार्वती ने अन्य सिद्ध पुरुषों के तप को भी नीचा दिखला दिया -

मृणालिकापेलवमेवमादिभिः-

व्रतैः स्वमङ्गं ग्लपयन्त्यहर्निशम् ।

तपः शरीरैः कठिनैरुपार्जितं,

तपस्विनां दूरमधश्चकार सा ॥ 29 ॥

अन्वयः—मृणालिकापेलवं स्वम् अङ्गम् एवमादिभिः व्रतैः अहर्निशं ग्लपयन्ती सा कठिनैः शरीरैः उपार्जितं तपस्विनां तपः दूरम् अधश्चकार ।

सञ्जीविनी टीकाः—मृणालिकेति ॥ मृणालिकापेलवं पद्मिनीकन्दकोमलं स्वयं स्वकीयम् अङ्गं शरीरम् एवमादिभिः एवमुक्तप्रकारतोयाग्नि-मध्यवासव्रतमादियेषां तैः व्रतैः । अहश्च निशा च अहर्निशम् समाहारे द्वन्द्वैकवद्भावः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । ग्लपयन्ती कर्शयन्ती सा पार्वती कठिनैः क्लेशसहैरित्यर्थः । शरीरैः उपार्जितं संपादितं तपस्विनाम् ऋषिणां तपः दूरम् अत्यन्तम् अधश्चकार । अतिशिश्ये इत्यर्थः । तपस्विभिरप्येवं तपः कर्तुं न शक्यत इति तात्पर्यार्थः ।

शब्दार्थः—मृणालिकापेलवम् = कमलिनी के समान कोमल, स्वम् = अपने, अङ्गम् = शरीर को, एवमादिभिः = इस प्रकार के (अग्निवास, उपवास तथा जलवास आदि), व्रतैः = नियमों से, अहर्निशम् = दिन-रात, ग्लपयन्ती = दुर्बल

बनाती हुई, सा = उस (पार्वती) ने, कठिनैः = कठोर, शरीरैः = शरीर से, उपार्जितम् = कमाई हुई, तपस्विनाम् = तपस्वियों की, तपः = तपस्या को, दूरम् = अत्यन्त, अधश्चकार = नीचा दिखा दिया।

अनुवादः—कमलिनी के समान कोमल अपने शरीर को इस प्रकार के व्रतों से दिन-रात क्षीण करती हुई उस(पार्वती) ने कठोर देहों से कमाई हुई तपस्वियों की तपस्या को अत्यधिक नीचा दिखा दिया।

Eng. Trans.:—By this and other kinds of penance, she, wearying her frame, delicate as a lotus-fibre, day and night, left far behind the *tapas* practised by anchorites with hardened frames.

व्याख्या:—पार्वती के तप के सामने अन्य ऋषि-मुनियों के तप के तिरस्कृत होने का वर्णन करते हुए कवि कह रहे हैं कि पार्वती ने अपने कमल के समान कोमल शरीर को अग्निवास, जलवास और उपवास आदि व्रत के कठोर नियमों के द्वारा अत्यन्त कृश बना दिया था। उसके इस कठोर तप से ऋषि-मुनियों और तपस्वियों का कठोर तप भी तुच्छ हो गया था अर्थात् पार्वती का तप तपस्वियों आदि के तप की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ तथा उत्तम था। भाव यह है कि पार्वती ने अपने कोमल शरीर की सिर्फ चिन्ता ही नहीं की, अपितु उन्होंने ऐसी कठोर तपस्या की कि वैसी तपस्या का तपस्वियों के द्वारा किया जाना भी सम्भव प्रतीत नहीं होता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:—

सन्धि:—ग्लपयन्त्यहर्निशम् = ग्लपयन्ती + अहर्निशम्; कठिनैरुपार्जितम् = कठिनैः + उपार्जितम्।

समास:—मृणालिकापेलवम् = मृणालिका इव पेलवम् (कर्म०); एवमादिभिः = एवम् आदिः येषां तानि इति एवमादीनि (बहु०) तैः; अहर्निशम् = अहश्च निशा च (द्वन्द्व); तपस्विनाम् = तपः अस्ति येषां ते इति तपस्विनः (बहु०) तेषाम्।

पदपरिचय:—ग्लपयन्ती = √ग्लै + णिच् + शतृ + डीप् प्र०वि०एक०; उपार्जितम् = उप + √अर्ज् + णिच् + क्त द्वि०वि०एक०; अधश्चकार = अधः + √कृ लिट् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकारः—व्यतिरेक

छन्दः—वंशस्थ ।



30. प्रसंगः—इसी समय पार्वती की घोर तपस्या से प्रभावित होकर ब्रह्मचारी का वेश धारण करके शिवजी जटाधारी तपस्वी पार्वती की परीक्षा लेने के लिए पार्वती के तपस्यास्थल पर आते हैं—

अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग्,

ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा ।

विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं,

शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा ॥ 30 ॥

अन्वयः—अथ अजिनाषाढधरः प्रगल्भवाक् ब्रह्ममयेन तेजसा ज्वलन् इव कश्चित् जटिलः शरीरबद्धः प्रथमाश्रमः यथा तपोवनं विवेश ।

सञ्जीविनी टीकाः—अथेति ॥ अथ अनन्तरम् अजिनाषाढधरः अजिनं कृष्णमृगतम् । आषाढः प्रयोजनमस्येत्याषाढः पलाशदण्डः । 'पलाशो दण्ड आषाढः इत्यमरः ।' 'विशाखाषाढादण्डमन्थ-दण्डयोः' इत्यण् प्रत्ययः । तयोर्धरस्तथोक्तः प्रगल्भवाक् प्रौढवचनः, ब्रह्ममयेन वैदिकेन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेत्यर्थः । ज्वलन् इव स्थितः । इव शब्दो निर्धारणार्थः । कश्चिद् अनिर्दिष्ट जटिलः जटावान् । ब्रह्मचारीति शेषः । पिच्छादित्वादिलक्ष्यप्रत्ययः । शरीरबद्धः बद्धशरीरः । शरीरवानित्यर्थः । आहिताग्न्यादिषु पाठात्साधुः । प्रथमाश्रमः यथा ब्रह्मचर्याश्रम इव । यथाशब्द इवार्थः । तपोवनम् । देव्या इति शेषः । विवेश प्रविष्टवान् ।

शब्दार्थः—अथ = इसके बाद (पार्वती द्वारा तपस्वियों की अपेक्षा और भी अधिक कठोर तपस्या करने के बाद), अजिनाषाढधरः = मृगचर्म और पलाश दण्ड को धारण करने वाला; प्रगल्भवाक् = गम्भीर वाणी बोलने वाला, ब्रह्ममयेन तेजसा = ब्रह्ममय तेज से, ज्वलन् इव = देदीप्यमान सा, कश्चित् = कोई, जटिलः = जटाधारी, शरीरबद्धः = शरीर धारण किए हुए, प्रथमाश्रमः = ब्रह्मचर्य आश्रम के, यथा = समान, तपोवनम् = तपोवन में, विवेश = प्रविष्ट हुआ ।

अनुवादः—इसके बाद कृष्ण मृगचर्म और पलाश दण्ड धारण करने वाला, गम्भीर वाणी बोलने वाला, ब्रह्ममय तेज से देदीप्यमान सा कोई जटाधारी शरीर धारण किये हुए ब्रह्मचर्य आश्रम के समान तपोवन में प्रविष्ट हुआ ।

Eng. Trans.:—Then a certain ascetic (*lit.* one with matted hair) wearing an antelope's skin, and holding a staff of Palāsā, of ripe speech and burning, as it were, (*i.e.* refulgent) with Brāhmanic lustre, entered the penance-forest, like the first stage of life (Brahmacharya) in bodily-form.

व्याख्या:—ब्रह्मचारी के वेश में शिवजी का तपोवन में प्रवेश करने का वर्णन करते हुए कवि कह रहे हैं कि जब पार्वती अपनी कठोर तपस्या में संलग्न थी तब एक अज्ञात जयधारी पुरुष उसके आश्रम में आया। वह ब्रह्मचारी काले हिरण के चमड़े को पहने हुए था और हाथ में पलाश दण्ड लिए हुए था। उसकी आवाज में गम्भीरता थी और वह ब्रह्मतेज से देदीप्यमान हो रहा था। ऐसा प्रतीत होता था कि मानो ब्रह्मचर्य आश्रम के अनुरूप ही शरीर धारण करके उस तपोवन में प्रविष्ट हुआ हो।

तपस्वी जनों द्वारा धार्मिक कार्यों को निष्पन्न करने के लिए आषाढ़ के महीने में पलाश के दण्ड को धारण किया जाता है, इसलिए इस पलाश दण्ड का ही नाम आषाढ़ पड़ गया। ब्राह्मण ब्रह्मचारी के लिए भी पलाश दण्ड धारण किया जाना विधि के समान है, अतः ब्रह्मचारी वेषधारी शिवजी पलाश दण्ड को धारण किए हुए थे। उन्होंने ब्रह्मचारी के वेश को इसलिए धारण किया था जिससे उनको कोई पहचान न सके।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:—

सन्धि:—अथाजिनाषाढधरः = अथ + अजिनाषाढधरः; ज्वलन्निव = ज्वलन् + इव; कश्चिज्जटिलस्तपोवनम् = कश्चित् + जटिलः + तपोवनम्।

समास:—अजिनाषाढधरः = अजिनं च आषाढश्च इति अजिनाषाढौ (द्वन्द्व०) तयोः धरः (ष०त०); प्रगल्भवाक् = प्रगल्भा वाक् यस्य सः (बहु०); ब्रह्ममयेन = ब्रह्मणः आगतम् इति ब्रह्ममयं (ष०त०) तेन; जटिलः = जटः सन्ति यस्य सः (बहु०); शरीरबद्धः = बद्धं शरीरं येन सः (बहु०); प्रथमाश्रमः = प्रथमश्चासौ आश्रमः (कर्म०); तपोवनम् = तपसः वनम् (ष०त०)।

पदपरिचय:—ब्रह्ममयेन = ब्रह्म + मयट् तृ०वि०एक०; ज्वलन् = √ज्वल् + शतृ प्र०वि०एक०; विवेश = √विश् लिट् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकार:—उत्प्रेक्षा

छन्द:—वंशस्थ।



31. प्रसंगः—ब्रह्मचारी के आने पर पार्वती ने उसका यथोचित सत्कार किया—

तमातिथेयी बहुमानपूर्वया,

सपर्यया प्रत्युदियाय पार्वती।

भवन्ति साम्येऽपि निविष्टचेतसां

वपुर्विशेषेष्वतिगौरवाः क्रियाः ॥ 31 ॥

अन्वयः—आतिथेयी पार्वती तं बहुमानपूर्वया सपर्यया प्रत्युदियाय। साम्येऽपि निविष्टचेतसां वपुर्विशेषेषु अतिगौरवाः क्रियाः भवन्ति।

सञ्जीविनी टीकाः—तमिति॥ अतिथिषु साध्वी आतिथेयी। ‘पथ्यतिथि’—इत्यादिना ढञ् प्रत्ययः। ‘टिड्ढाणञ्’ इत्यादिना ङीप्। पार्वती तं ब्रह्मचारिणं बहुमानपूर्वया बहुमानः पूर्वं यस्यास्तया। गौरवपूर्वयेत्यर्थः। सपर्ययया अर्चया। ‘सपर्यार्चाहणाः समाः’ इत्यमरः। प्रत्युदियाय प्रत्युज्जगाम। कथं समानेऽपि तस्यास्तादृशी प्रतिपत्तिरत आह—साम्ये सति अपि निविष्टचेतसां स्थिरचित्तानां वपुर्विशेषेषु व्यक्तिविशेषेषु अतिशयितं गौरवं यासु ताः अतिगौरवाः अतिगौरवसहिताः क्रियाः चेष्टाः भवन्ति। प्रवर्तन्ते इत्यर्थः। साधवो न साम्याभिनिवेशिन इति भावः।

शब्दार्थः—आतिथेयी = अतिथि सेवापरायणा, पार्वती = पार्वती ने, तम् = उसका, बहुमानपूर्वया = अत्यधिक सम्मान से युक्त, सपर्यया = पूजा के साथ, प्रत्युदियाय = आगे बढ़कर स्वागत किया, साम्ये = समबुद्धि होने पर, अपि = भी, निविष्टचेतसाम् = स्थिर बुद्धि वालों की, वपुर्विशेषेषु = पुरुष विशेष के प्रति, अतिगौरवाः = अत्यन्त गौरव से युक्त, क्रियाः = कार्य, भवन्ति = होते हैं।

अनुवादः—अतिथि सत्कार करने में अत्यन्त चतुर पार्वती ने अत्यधिक सम्मान से युक्त पूजा के साथ उस (ब्रह्मचारी) का आगे बढ़कर स्वागत किया। (क्योंकि) समानता में लगे हुए चित्त वाले व्यक्तियों के कार्य विशेष व्यक्तियों के लिए अधिक आदरयुक्त हो जाते हैं।

Eng. Trans.:—Pārvati, kindly disposed towards (all) guests, went forth to receive him, offering worship with great reverence; even when there is equality, the acts of the firm-minded towards great personages are such as are full of extreme reverence.

व्याख्या:—पार्वती के द्वारा ब्रह्मचारी वेषधारी शिव के सत्कार किये जाने का वर्णन करते हुए कवि कह रहे हैं कि अतिथि-सत्कार करने में पार्वती अत्यधिक निपुण थी, अतः जैसे ही इस ब्रह्मचारी अतिथि ने उसके तपोवन में प्रवेश किया वैसे ही वह उसके सत्कार के लिए आगे बढ़ी और उसका यथोचित सत्कार किया, क्योंकि समानता का भाव रखने वाले उदारमन व्यक्ति ब्रह्मतेज से युक्त विशेष व्यक्ति के प्रति अत्यन्त गौरवपूर्ण सत्कार करते हैं। भाव यह है कि सबको समान दृष्टि से देखने वाले समदर्शी व्यक्ति भी विशिष्ट व्यक्तियों का यथोचित सत्कार करते हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:—

सन्धि:—साम्येऽपि = साम्ये + अपि, वपुर्विशेषेष्वतिगौरवाः = वपुर्विशेषेषु + अतिगौरवाः।

समास:—आतिथेयी = न विद्यमानः तिथिः यस्य सः (नञ् बहु०), अतिथिषु साध्वी (स०त०); बहुमानपूर्वया = बहुश्चासौ मानः इति बहुमानः (कर्म०), बहुमानः पूर्वः यस्याः सा (बहु०) तया; साम्ये = समस्य भावः (ष०त०) तस्मिन्; निविष्टचेतसाम् = निविष्टं चेतो येषां ते (बहु०) तेषाम्; वपुर्विशेषेषु = वपुषां विशेषः इति वपुर्विशेषाः (ष०त०) तेषु; अतिगौरवाः = अत्यन्तं गौरवं यासां ताः (बहु०)।

पदपरिचय:—आतिथेयी = अतिथि + ङञ् + डीप् प्र०वि०एक०; प्रत्युदियाय = प्रति + उत् + √इ लिट् ल० प्र०पु०एक०; साम्ये = सम + घ्यञ् स०वि०एक०; भवन्ति = √भू लट् ल०प्र०पु० बहु०।

अलंकार:—अर्थान्तरन्यास।

छन्दः—वंशस्थ।



32. प्रसंगः—यथोचित सत्कार प्राप्त करने और कुछ विश्राम कर लेने के पश्चात् ब्रह्मचारी ने पार्वती से तपस्या करने का कारण पूछा—

विधिप्रयुक्तां परिगृह्य सत्क्रियां,

परिश्रमं नाम विनीय च क्षणम्।

उमां स पश्यन्नुजुनैव चक्षुषा

प्रचक्रमे वक्तुमनुज्झितक्रमः॥३२॥

अन्वयः—सः विधिप्रयुक्तां सत्क्रियां परिगृह्य क्षणं परिश्रमं च विनीय नाम, अथ उमाम् ऋजुना एव चक्षुषा पश्यन् अनुज्ञितक्रमः सन् वक्तुं प्रचक्रमे।

सञ्जीविनी टीका—विधीति॥ स ब्रह्मचारी विधिप्रयुक्तां विधिना प्रयुक्तामनुष्ठितां सत्क्रियां पूजां परिगृह्य स्वीकृत्य क्षणं परिश्रमं विश्रामं च विनीय नाम। नामेत्यपरमार्थे। अथ उमाम् ऋजुना एव विलासरहितेनैव चक्षुषा पश्यन् अनुज्ञितक्रमः अत्यक्तोचितपरिपाटीकः सन्। वक्तुं प्रचक्रमे प्रारभे।

शब्दार्थः—सः = उस(ब्रह्मचारी) ने, विधिप्रयुक्ताम् = विधिपूर्वक की गई, सत्क्रियाम् = पूजा को, परिगृह्य = ग्रहण करके, क्षणम् = कुछ समय तक, परिश्रमम् = परिश्रम को, च = और विनीय = दूर करके, नाम = सा, उमाम् = पार्वती को, ऋजुना एव = सरल ही, चक्षुषा = दृष्टि से, पश्यन् = देखता हुआ, अनुज्ञितक्रमः = वाक्यविन्यास के क्रम को न त्याग कर, वक्तुम् = कहना, प्रचक्रमे = प्रारम्भ किया।

अनुवादः—उस(ब्रह्मचारी) ने विधि पूर्वक की गई पूजा को स्वीकार करके और क्षण भर के लिए थकावट को दूर सा करके पार्वती को सरल दृष्टि से ही देखते हुए शिष्ट्यचार का त्याग न करते हुए कहना प्रारम्भ किया।

Eng. Trans.—Having accepted the worship (hospitality) offered according to proper rites and apparently eased his fatigue for a moment, he, looking at Umā with quite innocent eyes, began to speak to her, without giving up the proper mode (or decorum).

व्याख्या—शिव के द्वारा पार्वती से उसकी तपस्या का कारण पूछने का वर्णन करते हुए कवि कह रहे हैं कि अतिथि के रूप में आए हुए शिव ने पार्वती द्वारा शास्त्रोक्त विधि पूर्वक की गई पूजा को स्वीकार करने के पश्चात् कुछ थोड़ा-सा विश्राम किया और अपने रास्ते की थकावट को भी दूर कर लिया। वास्तव में ब्रह्मचारी रूप शिव यद्यपि थके नहीं थे किन्तु फिर भी उसने पहले थके हुए होने का और तत्पश्चात् पार्वती का आदर सत्कार प्राप्त कर उससे थकावट रहित होने का प्रदर्शन ही किया। तत्पश्चात् उन्होंने सरल दृष्टि से पार्वती की ओर देखा और शिष्ट्यचार पूर्वक उससे कहना प्रारम्भ किया।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि—पश्यन्ऋजुनैव = पश्यन् + ऋजुना + एव।

समासः—विधिप्रयुक्ताम् = विधिना प्रयुक्ता इति विधिप्रयुक्ता (तृ०त०),
ताम्; सत्क्रियाम् = सत् क्रिया (कर्म०) ताम्; अनुज्झितक्रमः = न उज्झितः क्रमः
येन सः (बहु०)।

पदपरिचयः—प्रयुक्ताम् = प्र + √युज् + क्त + टप् द्वि०वि०एक०; परिगृह्य
= परि + √ग्रह् + ल्यप्; परिश्रमम् = परि + √श्रम् + घञ् द्वि०वि०एक०; विनीय
= वि + √नी + ल्यप्; पश्यन् = √दृश् + शतृ प्र०वि०एक०; वक्तुम् = √वच् +
तुमुन्; प्रचक्रमे = प्र + √क्रम् लिट् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकारः—परिसंख्या

छन्दः—वंशस्थ।



33. प्रसंगः—अब तीन श्लोको में वह ब्रह्मचारी पार्वती से कुशल पूछता है
जिसमें सर्वप्रथम तपस्या के साधनों के विषय में प्रश्न करता है—

अपि क्रियार्थं सुलभं समित्कुशं,

जलान्यपि स्नानविधिक्षमाणि ते।

अपि स्वशक्त्या तपसि प्रवर्तसे,

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्॥33॥

अन्वयः—क्रियार्थं समित्कुशं सुलभम् अपि? जलानि ते स्नानविधिक्षमाणि
अपि? स्वशक्त्या तपसि प्रवर्तसे? खलु शरीरम् आद्यं धर्मसाधनम् (अस्ति)।

सञ्जीविनी टीका—अपीति॥ अत्रापि शब्दः प्रश्ने। क्रियार्थं
होमादिकर्मानुष्ठानार्थम्। समिधश्च कुशाश्च समित्कुशम्। 'जातिरप्राणिनाम्' इति
द्वन्द्वैकवद्भावः। सुलभम् अपि सुलभं कच्चित्। जलानि ते तव स्नानविधिकर्माणि
स्नानक्रियायोग्यानि अपि कच्चित्। किं च स्वशक्त्या निजसामर्थ्यानुसारेण तपसि
प्रवर्तसे अपि देहमपीडयित्वा तपश्चरसि कच्चिदित्यर्थः। युक्तं च नामैतत् खलु
यस्मात् शरीरम् आद्यं धर्मसाधनम्। धर्मस्तु कायेन वाचा बुद्ध्या धनादिना च
बहुभिः साध्यते। तेषु च वपुरेव मुख्यं साधनम्। सति देहे धर्मार्थकाममोक्ष-
लक्षणाश्चतुर्वर्गाः साध्यन्ते। अत एव 'सततमात्मानमेव गोपयित' इति श्रुतिः।
अयथाबलमारम्भो निदानं क्षयसंपदाम्।' इति भावः।

शब्दार्थः—क्रियार्थम् = (होमादि) क्रियाओं के लिए, समित्कुशम् = समिधाएँ

और कुशा, सुलभम् अपि = सुप्राप्य तो हैं क्या?, अपि = क्या (प्रश्नार्थक अव्यय), जलानि = जल, ते = तुम्हारे, स्नानविधिक्षमाणि = स्नान करने योग्य है, अपि = क्या, स्वशक्त्या = अपनी शक्ति के अनुसार, तपसि = तपस्या में, प्रवर्तसे = प्रवृत्त होती हो, खलु = निश्चित रूप से, शरीरम् = शरीर, आद्यम् = मुख्य, धर्मसाधनम् = धर्म का साधन है।

अनुवादः—(होमादि धार्मिक)क्रियाओं के लिए समिधाएँ और कुश तो सरलतापूर्वक मिल जाते हैं न? जल तो तुम्हारे स्नान करने योग्य है? अपनी शक्ति के अनुसार ही तपस्या में प्रवृत्त होती हो न? (क्योंकि) निश्चित रूप से शरीर ही धर्म(धार्मिक कृत्यों) का पहला साधन है।

Eng. Trans.:—“Are sacrificial wood and Kuśa grass easily obtainable for holy rites? Is the water suitable for thy bathing? And dost thou practise austerities proportionate to thy strength? For, the body is the ultimate means of performing religious duties.

व्याख्या:—ब्रह्मचारी के वेष में आए हुए शिव पार्वती से कुशल-प्रश्न पूछते हुए कहते हैं कि यज्ञ इत्यादि धार्मिक कृत्यों को करने के लिए उसे इस तपोवन में आवश्यकतानुसार समिधाएँ और कुश तो सरलतापूर्वक प्राप्त हो जाते हैं? तपोवन के जलाशयों में स्नानादि करने योग्य स्वच्छ और निर्मल जल तो प्राप्य है? तुम अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही तप इत्यादि का आचरण करती हो? शरीर को कष्ट देकर तप करना सर्वथा अनुचित है क्योंकि धार्मिक कृत्यों को करने का प्रमुख साधन तो स्वस्थ शरीर ही है। शरीर के स्वस्थ रहने पर ही चारों पुरुषार्थों की सिद्धि की जा सकती है, अन्यथा नहीं। अतः शरीर की चिन्ता न करते हुए तुम्हें तपस्या नहीं करनी चाहिए।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:—

सन्धि:—जलान्यपि = जलानि + अपि।

समास:—क्रियार्थम् = क्रियाभ्यः हितम् इति क्रियार्थम् (च०त०); समित्कुशम् = समिधश्च कुशा च (द्वन्द्व); स्नानविधिक्षमाणि = स्नानस्य विधिः इति स्नानविधिः (ष०त०) तस्मिन् क्षमाणि (स०त०); स्वशक्त्या = स्वस्य शाक्तिः इति स्वशक्तिः (ष०त०) तया; आद्यम् = आदौ भवम् (उपपद त०); धर्मसाधनम् = धर्मस्य साधनम् (ष०त०)।

पदपरिचयः—सुलभम् = सु + √लभ् + खल् प्र०वि०एक०; स्वशक्त्या = स्व + √शक् + क्तिन् तृ०वि०एक०; प्रवर्तसे = प्र + √वृत् लट् ल०म०पु०एक०; आद्यम् = आदि + यत् प्र०वि०एक०; साधनम् = √साध् + ल्युट् प्र०वि०एक०।

अलंकारः—अर्थान्तरन्यास

छन्दः—वंशस्थ।



34. प्रसंगः—अब पार्वती द्वारा लगाई गई लताओं आदि के बारे में पूछता हुआ ब्रह्मचारी कहता है—

अपि त्वदावर्जितवारिसंभृतं,

प्रवालमासामनुबन्धि वीरुधाम्।

चिरोज्झितालक्तकपाटलेन ते,

तुलां यदारोहति दन्तवाससा॥34॥

अन्वयः—त्वदावर्जितवारिसम्भृतम् आसां वीरुधां प्रवालम् अनुबन्धि अपि? यत् चिरोज्झितालक्तकपाटलेन ते दन्तवाससा तुलाम् आरोहति।

सञ्जीविनी टीकाः—अपीति ॥ त्वदावर्जितवारिसंभृतं त्वयावर्जितेन सिक्तेन वारिणा संभृतं जनितम् आसां वीरुधां लतानां प्रवालं पल्लवम् अनुबन्धि अपि अनुस्यूतं किम्। यत् प्रवालं चिरोज्झितश्चिरकालत्यक्तो लाक्षारगो येन तत्तथापि पाटलम्। स्वभावरक्तमित्यर्थः। तेन चिरोज्झितालक्तकपाटलेन ते तव दन्तवाससा अधरेण। 'ओष्ठाधरौ तु रदनच्छदौ दशनवाससी' इत्यमरः। तुलां साम्यम् आरोहति। गच्छतीत्यर्थः। अत्र तुलाशब्दस्य सादृश्यवाचित्वात्तद्योगेऽपि 'तुल्यार्थैस्तुलोपमाभ्याम्' इति न तृतीयाप्रतिषेधः तत्र सूत्रे सदृशवाचिन एव ग्रहणादिति।

शब्दार्थः—त्वदावर्जितवारिसम्भृतम् = तुम्हारे द्वारा सिञ्चित जल से संवर्धित, आसाम् = इन, वीरुधाम् = लताओं का, प्रवालम् = पल्लव, किसलय, अनुबन्धि = निरन्तर हो रहा है, अपि = क्या?, यत् = जो, चिरोज्झितालक्तकपाटलेन = बहुत समय से छूट गया है लाक्षारस से लाल करना जिसका ऐसे, ते = तुम्हारे, दन्तवाससा = अधरोष्ठ से, तुलाम् = समानता को, आरोहति = प्राप्त करता है।

अनुवादः—तुम्हारे द्वारा दिये गए जल से संवर्धित इन लताओं का पल्लव निरन्तर होता है न जो बहुत समय से लाक्षारस के छोड़ देने पर भी प्राकृतिक लाल तुम्हारे अधरोष्ठ से समानता करता है।

Eng. Trans.—Are the young leaves of these creepers, made to sprout by the water sprinkled by thee, thriving?—the leaves which vie with thy nether lip, red though long bereft of the scarlet of Alaktaka (red lac).

व्याख्या:—पार्वती के द्वारा जिन लताओं को लगाया गया था और जिनमें वह नित्य जल देती थी, उन लताओं के बारे में पूछता हुआ ब्रह्मचारी कहता है कि आपके द्वारा सिद्धित इन लताओं में सदैव नवीन पत्ते निकलते हैं अथवा नहीं? जो तुम्हारे लाक्षारस से रहित अतएव स्वाभाविक रक्त वर्ण के निचले ओष्ठ की समानता को प्राप्त करते हैं। यद्यपि पार्वती ने अलक्तक से अधरोष्ठ को रंगना बहुत समय पहले ही त्याग दिया था किन्तु वे फिर भी लाल थे।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:—

सन्धि:—यदारोहति = यत् + आरोहति।

समास:—त्वदावर्जितवारिसम्भृतम् = त्वया आवर्जितम् इति त्वदावर्जितम् (तृ०त०), त्वदावर्जितं च तद् वारि इति त्वदावर्जितवारि (कर्म०), तेन संभृतम् (तृ०त०); चिरोज्झितालक्तकपाटलेन = चिरम् उज्झितः इति चिरोज्झितः (द्वि०त०), चिरोज्झितः अलक्तकः येन तत् (बहु०), चिरोज्झितालक्तकं च तत् पाटलम् (कर्म०) तेन; दन्तवाससा = दन्तानां वासः इति दन्तवासः (ष०त०) तेन।

पदपरिचय:—सम्भृतम् = सम् + √भृ + क्त प्र०वि०एक०; वीरुधाम् = वि + √रुह् + क्विप् स्त्री० ष०वि०बहु०; अनुबन्धि = अनु + √बन्ध् + णिनि प्र०वि०एक०; आरोहति = आ + √रुह् लट् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकार:—प्रतीप

छन्द:—वंशस्थ।



35. प्रसंग:—अब ब्रह्मचारी पूछता है कि क्या तुम्हारी इन आँखों से समानता करने वाले मृगों के साथ तुम्हारा मन प्रसन्न तो रहता है —

अपि प्रसन्नं हरिणेषु ते मनः,

करस्थदर्भप्रणयापहारिषु।

य उत्पलाक्षि! प्रचलैर्विलोचनै-

स्तवाक्षिसादृश्यमिव प्रयुञ्जते ॥ 35 ॥

अन्वयः—करस्थदर्भप्रणयापहारिषु हरिणेषु ते मनः प्रसन्नम् अपि? हे उत्पलाक्षि! ये प्रचलैः विलोचनैः तव अक्षिसादृश्यं प्रयुञ्जते इव।

सञ्जीविनी टीकाः—अपीति ॥ करस्थदर्भप्रणयापहारिषु करस्थान्दर्भान् प्रणयेन स्नेहेनापहरन्तीति ते तथोक्तेषु। सापराधेष्विति भावः। ‘करस्थदर्भप्रणयापराधिषु’ इति पाठे दर्भाणां प्रणयेन प्रार्थनयापराधिषु हरिणेषु विषये ते मनः प्रसन्नम् अपि न क्षुभितं किम्। सापराधेष्वपि न कोपितव्यं तपस्विभिरिति भावः। हे उत्पलाक्षि, ये हरिणाः प्रचलैः चञ्चलैः विलोचनैर्नेत्रैस्तवाक्षिसादृश्यं प्रयुञ्जते इव अभिनयन्तीव। प्रसन्नत्वान्मृगनेत्राणि त्वन्नयैः साम्यमुपयान्तीति भावः। ‘उत्पलक्षेपचलैः’ इति पाठान्तरे उत्पलकम्पचलैः। भावानयने द्रव्यानयनमिति न्यायेन क्षिप्यमाणोत्पल-चलैरित्यर्थः।

शब्दार्थः—करस्थदर्भप्रणयापहारिषु = हाथ में स्थित कुशों को प्रेमपूर्वक अपहरण करने वाले, हरिणेषु = मृगों के प्रति, ते = तुम्हारा, मनः = मन, प्रसन्नम् = प्रसन्न है, अपि = क्या?, उत्पलाक्षि = हे कमल के समान नेत्रों वाली!, ये = जो, प्रचलैः = चञ्चल, विलोचनैः = नेत्रों से, तव = तुम्हारे, अक्षिसादृश्यम् = नेत्रों की समता करने का, प्रयुञ्जते इव = मानो अभिनय करते हैं।

अनुवादः—(तुम्हारे) हाथ में स्थित कुशों को प्रेम के कारण अपहरण करने वाले मृगों के प्रति तुम्हारा मन प्रसन्न तो है? हे कमल के समान नेत्रों वाली (पार्वती)! जो (अपने) चंचल नेत्रों से तुम्हारी आँखों की समता करने का अभिनय सा करते हैं।

Eng. Trans.:—Is thy mind pleasingly disposed towards the fawns, who take the Kuśa grass from thy hands through their love (for thee), and who, O lotus-eyed one, present a close resemblance to thy eyes by their unsteady glances?

व्याख्याः—ब्रह्मचारी के वेश में आए हुए भगवान् शिव पार्वती से पूछ रहे हैं कि हे पार्वती! ये मृग बड़े ही दुष्ट हो गए हैं। क्योंकि पार्वती होमादि क्रिया के लिए जिन कुशों को लाती थीं, ये हिरण अत्यधिक स्नेह के कारण उसके हाथ से छीनकर उन्हें खा जाते थे, इस कारण उन हिरणों का अपराध स्पष्ट है तो शिव

पार्वती से पूछते हैं कि क्या तुम इन अपराधियों के प्रति क्रोध तो नहीं करती हो, क्योंकि इनकी चञ्चल दृष्टि तुम्हारा ही अनुकरण करती है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धि:-य उत्पलाक्षि = ये + उत्पलाक्षि, प्रचलैर्विलोचनैस्तवाक्षिसादृश्यमिव = प्रचलैः + विलोचनैः + तव + अक्षिसादृश्यम् + इव।

समास:-करस्थदर्भप्रणयापहारिषु = करे तिष्ठन्तीति करस्थाः (उपपद त०), करस्थाः दर्भाः इति करस्थदर्भाः (कर्म०), तेषां प्रणयापहारिणः (ष०त०) तेषु; उत्पलाक्षि = उत्पले इव अक्षिणी यस्याः सा इति उत्पलाक्षी (बहु०) तत्सम्बुद्धौ; विलोचनैः = विशिष्टानि लोचनानि इति विशिष्टलोचनानि (कर्म०) तैः; अक्षिसादृश्यम् = अक्षणोः सादृश्यम् (ष०त०)।

पदपरिचय:-करस्थ = कर + √स्था + क; प्रणय = प्र + √नी + अच्; अपहारिषु = अप + √ह + णिनि संवि०बहु०; प्रसन्नम् = प्र + √सद् + क्त प्र०वि०एक०; प्रचलैः = प्र + √चल् + अच् तृ०वि०बहु०; विलोचनैः = वि + √लोच् + ल्युट् तृ०वि०बहु०; प्रयुज्जते = प्र + √युज् आत्मनेपद लट् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकार:-उत्प्रेक्षा

छन्द:-वंशस्थ।



36. प्रसंग:-इस प्रकार कुशल पूछने के बाद ब्रह्मचारी पार्वती के आचरण एवं रूप की प्रशंसा करता हुआ कहता है-

यदुच्यते पार्वति! पापवृत्तये,

न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।

तथा हि ते शीलमुदारदर्शने,

तपस्विनामप्युपदेशतां गतम्॥36॥

अन्वय:-हे पार्वति! 'रूपं पापवृत्तये न' इति यत् उच्यते, तत् वचः अव्यभिचारि। तथाहि हे उदारदर्शने। ते शीलं तपस्विनाम् अपि उपदेशतां गतम्।

सञ्जीविनी टीका:-यदिति॥ हे पार्वति रूपं सौम्याकृतिः पापवृत्तये पापाचरणाय न भवति। इति यदुच्यते। लोकैरिति शेषः। यद्वचः न व्यभिचरति न स्वलतीति अव्यभिचारि सत्यम्। 'यत्राकृतिस्तत्र गुणाः' 'न सुरूपाः पापसमाचारा

भवन्ति' इत्यादयो लोकवादा न विसंवादमासादयन्तीत्यर्थः। किमिति ज्ञायते-तथा हि। हे उदारदर्शने आयताक्षि। सुरूपे इत्यर्थः। अथवा उन्नतज्ञाने विवेकवतीत्यर्थः। ते तव शीलं सद्वृत्तम्। 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' इत्यमरः। तपस्विनाम् अपि उपदिश्यते अनेनेत्युपदेशः प्रवर्तकं प्रमाणं तत्ताम् उपदेशताम् गतं प्राप्तम्। मुनयोऽपि त्वां वीक्ष्य स्ववृत्ते प्रवर्तन्त इति भावः।

शब्दार्थः:-पार्वति = हे पार्वती!, रूपम् = सौन्दर्य, पापवृत्तये = पापाचरण के लिए, न = नहीं (होता है), इति = यह, यत् = जो, उच्यते = कहा जाता है, तत् = वह, वचः = कथन, अव्यभिचारि = असत्य नहीं है (सत्य ही है), तथाहि = क्योंकि, उदारदर्शने = हे विशाल नेत्रों वाली (पार्वती)!, ते = तुम्हारा, शीलम् = आचरण, तपस्विनाम् = तपस्वियों के लिए, अपि = भी, उपदेशताम् = प्रमाण, गतम् = हो गया है।

अनुवादः:-हे पार्वती! 'रूप पापाचरण के लिए नहीं होता है' इस प्रकार जो कहा जाता है वह वचन सत्य ही है, क्योंकि हे विशाल नेत्रों वाली (पार्वती)! तुम्हारा आचरण तपस्वियों के लिए भी प्रमाणभूत हो गया है।

Eng. Trans.:-O Mountain-born lady, the remark that beauty never leads to a sinful course of life is not false (*lit.* not a deviation from a general rule), since, O thou of noble form, thy conduct has become worthy of imitation even for the ascetics.

व्याख्या:-ब्रह्मचारी के वेष में आए हुए भगवान् शिव पार्वती से कह रहे हैं कि हे पार्वती! संसार में जो यह कहा जाता है कि सुन्दर व्यक्ति पापाचरण नहीं करते हैं अथवा सौन्दर्य किसी को भी पापाचरण के लिए प्रेरणा नहीं देता है -यह कथन तुम्हारे विषय में नितान्त सत्य प्रतीत होता है क्योंकि तुम अत्यन्त रूपवती हो परन्तु फिर भी तुम्हारा चरित्र ऐसा है कि जिसका अनुकरण तपस्वीजन भी करते हैं। अतः यह कथन सत्य ही है कि -'यत्राकृतिस्तत्रगुणाः वसन्ति'।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धि:-यदुच्यते = यत् + उच्यते; रूपमित्यव्यभिचारि = रूपम् + इति + अव्यभिचारि, तद्वचः = तत् + वचः; तपस्विनामप्युपदेशताम् = तपस्विनाम् + अपि + उपदेशताम्।

समास:-पापवृत्तये = पापस्य वृत्तिः इति पापवृत्तिः (ष०त०) तस्यै;

अव्यभिचारि = न व्यभिचरतीति अव्यभिचारि (नञ् त०); उदारदर्शने = उदारं दर्शनं यस्याः सा इति उदारदर्शना (बहु०) तत्सम्बुद्धौ; तपस्विनाम् = तपः अस्ति येषां ते इति तपस्विनः (बहु०) तेषाम्; उपदेशताम् = उपदेशस्य भावः (ष०त०)ताम्।

पदपरिचयः—उच्यते = √ब्रू लट् ल०प्र०पु०एक०; अव्यभिचारि = नञ् + वि + अभि + √चर् + णिनि प्र०वि०एक०; उदारदर्शने = उदार + √दृश् + ल्युट् सम्बोधन एक०; तपस्विनाम् = तपस् + विनि ष०वि०बहु०; उपदेशताम् = उप + √दिश् + घञ् + तल् + टप् द्वि०वि०एक०; गतम् = √गम् + क्त प्र०वि०एक०।

अलंकारः—अर्थान्तरन्यास

छन्दः—वंशस्थ।



37. प्रसंगः—अब ब्रह्मचारी पार्वती की तपस्या के प्रभाव का वर्णन करते हुए कहता है —

विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासिभि-

स्तथा न गाङ्गैः सलिलैर्दिवश्च्युतैः।

यथा त्वदीयैश्चरितैरनाविलै-

र्महीधरः पावित एष सान्वयः॥37॥

अन्वयः—एष महीधरः विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासिभिः दिवः च्युतैः गाङ्गैः सलिलैः तथा न पावितः, यथा अनाविलैः त्वदीयैः चरितैः सान्वयः (पावितः)।

सञ्जीविनी टीकाः—विकीर्णैति। एष महीधरः हिमवान्। विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासिभिः सप्त च ते ऋषयश्च सप्तर्षयः। 'दिवसंख्ये संज्ञायाम्' इति समासः। विकीर्णैः पर्यस्तैः सप्तर्षीणां सम्बन्धिभिर्बलिभिः पुष्पोपहारैः प्रहसन्ति यैः तथोक्तैः दिवः अन्तरिक्षात् च्युतैः गाङ्गैः सलिलैः तथा न पावितः। अनाविलैः अकलुषैः त्वदीयैः चरितैः यथा सान्वयः सपुत्रपौत्रः पावितः पवित्रीकृतः।

शब्दार्थः—एषः = यह, महीधरः = (हिमालय) पर्वत, विकीर्णसप्तर्षि-बलिप्रहासिभिः = सप्तर्षियों द्वारा चढ़ाए गए फूलों के उपहारों से मुस्कराने वाले, दिवः = स्वर्ग से, च्युतैः = गिरे हुए, गाङ्गैः = गंगा के, सलिलैः = जलों से, तथा = उतना, न पावितः = पवित्र नहीं किया गया, अनाविलैः = पवित्र, त्वदीयैः = तुम्हारे, चरितैः = चरित्रों से, यथा = जैसे, सान्वयः = वंश सहित।

अनुवादः—यह पर्वत (हिमालय) सप्तर्षियों द्वारा बिखरे गए फूलों के उपहारों से मुस्कराने वाले और स्वर्ग से गिरे हुए गंगा के जलों से उतना पवित्र नहीं किया गया, जितना तुम्हारे पवित्र आचरणों से वंश सहित (यह पवित्र कर दिया गया है)।

Eng. Trans.—This Up-holoder of the earth (Mountain) together with his family, has not been so sanctified by the waters to the Ganges, dropping from the firmament and resplendent with the offerings of flowers scattered by the seven (heavenly) Sages, as he has been by the pure (*lit.* free from the taint of sin) acts.

व्याख्या—पार्वती के आचरणों की पवित्रता का वर्णन करता हुआ ब्रह्मचारी कहता है कि हिमालय के ऊपर पवित्र गंगा का जल गिरता है तथा सप्तर्षियों द्वारा दिए गए पुष्पों के उपहार के संसर्ग से यह जल और भी अधिक पवित्र हो जाता है। इतना अधिक पवित्र गंगा का जल भी हिमालय को उतना अधिक पवित्र नहीं बना सका कि जितना तुम्हारे आचरणों के द्वारा वह सकुटुम्ब पवित्र बना दिया गया। इससे प्रतीत होता है कि पार्वती का चरित्र गंगा जल की अपेक्षा कहीं अधिक पवित्र था और उसी के चरित्र के प्रभाव से हिमालय के मातृ-पितृ = उभय कुल पवित्र हो गए थे।

मरीचि, अङ्गिरस, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु तथा वशिष्ठ ये सप्तर्षि कहलाते हैं। क्योंकि इनका निवास स्थान आकाश है इसलिए आकाशगंगा में स्नान करके ये देवताओं को पुष्पों का उपहार चढ़ाते हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि—प्रहासिभिस्तथा = प्रहासिभिः+तथा; सलिलैर्दिवश्च्युतैः = सलिलैः+दिवः+च्युतैः, त्वदीयैश्चरितैरनाविलैर्महीधरः = त्वदीयैः+चरितैः+अनाविलैः+महीधरः।

समास—महीधरः = मह्याः धरः (ष०त०); विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासिभिः = सप्त च ते ऋषयः इति सप्तर्षयः (कर्म०), तेषां वलयः इति सप्तर्षिबलय (ष०त०), विकीर्णाश्च ते सप्तर्षिबलयः (कर्म०) तान् प्रहसन्तीति (द्वि०त०) तैः; अनाविलैः = न अविलानि इति अनाविलानि (नञ् त०) तैः, सान्वयः = अन्वयेन सह (अव्ययीभाव)।

पदपरिचय—महीधरः = मही + √धृ + अप् प्र०वि०एक०; विकीर्ण = वि

+ √क् + क्त, प्रहासिभिः = प्र + √हस् + णिनि तृ० वि० बहु०; दिवः = दिव शब्द
पं० वि० एक०, च्युतैः = √च्यु + क्त तृ० वि० बहु०; गाङ्गैः = गङ्गा + अण्
तृ० वि० बहु०; पावितः = √पू + णिच् + क्त प्र० वि० एक०; त्वदीयैः = युष्मद् +
छ तृ० वि० बहु० ।

अलंकारः—व्यतिरेक

छन्दः—वंशस्थ ।



38. प्रसंगः—अब ब्रह्मचारी पार्वती के धर्माचरण से प्रभावित होकर कहता है कि वस्तुतः धर्म ही त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) में सर्वश्रेष्ठ तथा सार रूप है —

अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे,

त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भाविनि ।

त्वया मनोनिर्विषयार्थकामया,

यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते ॥ 38 ॥

अन्वयः—हे भाविनि । अनेन धर्मः सविशेषम् अद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति ।
यत् मनोनिर्विषयार्थकामया त्वया एकः धर्म एव प्रतिगृह्य सेव्यते ।

सङ्गीविनी टीकाः—अनेनेति ॥ हे भाविनि, प्रशस्ताभिप्राये । अनेन कारणेन
धर्मः सविशेषं सातिशयम् अद्य मे । त्रिवर्गसारः त्रयाणां धर्मकामार्थानां वर्गस्त्रिवर्गः ।
'त्रिवर्गो धर्मकामार्थैश्चतुर्वर्गः समोक्षकैः ।' इत्यमरः । तत्र सारः श्रेष्ठः प्रतिभाति ।
यत् यस्मात्कारणात् मनोनिर्विषयार्थकामया मनसो निर्विषयावर्थकामौ यस्यास्तया
त्वया एकः धर्मः एव प्रतिगृह्य स्वीकृत्य सेव्यते । यत्त्वयार्थकामौ विहाय धर्म
एवावलम्बितः । अतः सर्वेषां नः स श्रेयानिति प्रतिपद्यत इत्यर्थः ।

शब्दार्थः—भाविनि = हे उत्तम विचारों वाली, अनेन = इस कारण से, धर्मः
= धर्म, सविशेषम् = विशेष रूप से, अद्य = आज, मे = मुझे, त्रिवर्गसारः = धर्म,
अर्थ, काम—इन त्रिवर्ग में श्रेष्ठ, प्रतिभाति = प्रतीत होता है, यत् = क्योंकि,
मनोनिर्विषयार्थकामया = मन में से अर्थ और काम को हटाकर, त्वया = तुम,
एकः = अकेले, (धर्मः = धर्म को), एव = ही, प्रतिगृह्य = स्वीकार करके,
सेव्यते = सेवन कर रही हो ।

अनुवादः—हे उत्तम विचारों वाली (पार्वती)! इससे आज मुझे धर्म ही

विशेष रूप से त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) में श्रेष्ठ प्रतीत होता है क्योंकि मन में से अर्थ और काम के विषयों को निकाले हुए तुम एक (धर्म) को ही स्वीकार करके (उसका) सेवन कर रही हो।

Eng. Trans.:-O thou of pure intentions, on account of this thy conduct, Dharma (i.e. pursuit of religion) strikes me pre-eminently as the best of the group of three (viz. Dharma, Artha and Kāma), since this only has been selected and followed by thee, with a mind from which all thought of Artha (wealth) and Kāma (desire) has been cast out.

व्याख्या:—ब्रह्मचारी के वेश में आए हुए भगवान् शिव पार्वती की धार्मिक भावना की प्रशंसा करते हुए उससे कह रहे हैं कि हे उत्तम अभिप्राय से युक्त पार्वती! तपोव्रत को लेने के बाद तुमने मन को अर्थ और काम की ओर से हटकर केवल धर्म का पालन करने में ही संलग्न कर दिया है क्योंकि पार्वती जब तपस्विनी बन गई थी तब से उसका मन अर्थ और काम की ओर से हट गया था और वह इस समय केवल धर्माचरण में ही संलग्न थी। अतः शिव कहते हैं कि तुम्हारे इस पावन आचरण तथा चरित्र को देखकर मैं तो इसी परिणाम पर पहुँचता हूँ कि वस्तुतः धर्म, अर्थ और काम—इस त्रिवर्ग में धर्म ही श्रेष्ठ है तथा अर्थ और काम मनुष्य को धर्म से विमुख कर देने वाले भी हो सकते हैं।

वस्तुतः धर्म की प्रधानता के कारण ही त्रिवर्ग में धर्म को सबसे पहले रखा गया है क्योंकि भारतीय संस्कृति की यह धारणा है कि धर्म के बिना अर्थ और काम श्रेयस्कर नहीं हो सकते। धर्म द्वारा निर्धारित सीमा में रहकर अर्थ या काम उपार्जित किया जाता है तो वह मंगल कारक होता है अन्यथा नहीं। इसी कारण धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों में धर्म ही श्रेष्ठ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:—

सन्धि:—सविशेषमद्य = सविशेषम् + अद्य, यदेक = यत् + एकः।

समास:—भाविनि = प्रशस्तः भावः यस्याः अस्तीति भाविनी (बहु०) तत्सम्बुद्धौ; सविशेषम् = विशेषेण सह (अव्ययी०); त्रिवर्गसारः = त्रयाणां वर्गः इति त्रिवर्गः (ष०त०), तस्य तस्मिन् वा सारः (ष०या स०त०); मनोनिर्विषयार्थकामया = निर्गतः विषयः ययोः तौ इति निर्विषयौ (बहु०), अर्थश्च कामश्च इति अर्थकामौ (द्वन्द्व), मनसः निर्विषयौ अर्थकामौ यस्याः सा (बहु०) तथा।

पदपरिचयः—भाविनि = $\sqrt{\text{भू}} + \text{घञ्} + \text{णिनि} + \text{डीप् सम्बो० एक०}$;
प्रतिभाति = प्रति + $\sqrt{\text{भा लट् ल०प्र०पु०एक०}}$; प्रतिगृह्य = प्रति + $\sqrt{\text{ग्रह} + \text{ल्यप्}}$;
सेव्यते = $\sqrt{\text{सेव् कर्मवाच्य लट् ल०प्र०पु०एक०}}$ ।

अलंकारः—अनुमान

छन्दः—वंशस्थ ।



39. प्रसंगः—ब्रह्मचारी पार्वती के वास्तविक मनोरथ को जानने का प्रयत्न करते हुए कहता है —

प्रयुक्तसत्कारविशेषमात्मना,

न मां परं संप्रतिपत्तुमर्हसि ।

यतः सतां संनतगात्रि! संगतं,

मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते ॥ 39 ॥

अन्वयः—आत्मना प्रयुक्तसत्कारविशेषं मां परं सम्प्रतिपत्तुं न अर्हसि, हे संनतगात्रि ! यतः मनीषिभिः सतां सङ्गतं साप्तपदीनम् उच्यते ।

सञ्जीविनी टीकाः—प्रयुक्तेति । आत्मना त्वया प्रयुक्तः कृतः सत्कारविशेषः पूजातिशयो यस्य तं प्रयुक्तसत्कारविशेषं मां परम् अन्यं संप्रतिपत्तुम् अवगन्तुं न अर्हसि । हे संनतगात्रि संनताङ्गि ! 'अङ्गगात्रकण्ठेभ्यः' इति वक्तव्यात् डीप् । यतः कारणान्मनस ईषिभिः मनीषिभिः विद्वद्भिः । शकन्वादित्वात्साधुः । सतां संगतं सख्यं सप्तभिः पदैरापद्यत इति साप्तपदीनं सप्तपदोच्चारणसाध्यम् उच्यते । तच्चावयोस्त्वत्कृतसत्कारप्रयोगादेव सिद्धमित्यर्थः । 'साप्तपदीनं सख्यम्' इति निपातनात्साधुः ।

शब्दार्थः—आत्मना = स्वयं, प्रयुक्तसत्कारविशेषम् = जिसका विशेष रूप से सम्मान किया गया है ऐसे, माम् = मुझको, परम् = पराया, सम्प्रतिपत्तुम् = समझना, न अर्हसि = उचित नहीं है, संनतगात्रि = हे सुन्दर अंगों वाली !, यतः = क्योंकि, मनीषिभिः = विद्वानों से, सताम् = सज्जनों की, सङ्गतम् = मित्रता, साप्तपदीनम् = सात पदों (कदमों अथवा शब्दों) से होने वाली, उच्यते = कही जाती है ।

अनुवादः—स्वयं मेरा विशेष रूप से सत्कार करने वाली (तुम) मुझे पराया

(अपरिचित) समझने योग्य नहीं हो क्योंकि हे सुन्दरांगी! बुद्धिमानों के द्वारा सज्जनों की मित्रता सात पदों से होने वाली कही जाती है।

Eng. Trans.:-It does not behove thee to regard me as a stranger, to whom special hospitality was accorded by thee; for, O thou of stooping body, the friendship of good people is declared to be formed after seven words have been exchanged between them (or, after seven steps have been walked together).

व्याख्या:-शिव पार्वती का मनोरथ जानने की इच्छा से उससे कहते हैं कि हे सुन्दरि! विद्वानों के कथनानुसार सज्जन पुरुषों की तरह प्रथम समागम से ही मैं भी तुम्हारा हितैषी बन गया हूँ क्योंकि पार्वती के साथ उसका कुछ वार्तालाप हो चुका है और अब वह पार्वती से स्वेच्छापूर्वक पूछे गए प्रश्नों के द्वारा उसके सम्पूर्ण समाचारों को सरलता पूर्वक जान सकता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

समास:-प्रयुक्तसत्कारविशेषम् = सत्कारस्य विशेषः इति सत्कारविशेषः (ष०त०), प्रयुक्तः सत्कारविशेषः यस्य सः (बहु०)तम्; सन्नतगात्रि = सम्यक् नतम् इति सन्नतम् (प्रादि त०), सन्नतं गात्रं यस्याः सा (बहु०) तत्सम्बुद्धौ; मनीषिभिः = मनसः ईषिणः इति मनीषिणः (ष०त०) तैः; साप्तपदीनम् = सप्तानां पदानां समाहारः इति सप्तपदम् (द्विगु) तेन अवाप्यम् (तृ०त०)।

पदपरिचय:-आत्मना = आत्मन् शब्द तृ०वि०एक०; सम्प्रतिपत्तुम् = सम् + प्रति + √पद् + तुमुन्; अर्हसि = √अर्ह लट् ल०म०पु० एक०; मनीषिभिः = मनीषा + इनि तृ० वि० बहु०; सताम् = सत् शब्द ष०वि०बहु०; सङ्गतम् = सम् + √गम् + क्त नपुं. प्र०वि०एक०; उच्यते = √बूँ या √वच् कर्मणि यक् लट् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकार:-अर्थान्तरन्यास

छन्दः:-वंशस्थ।



40. प्रसंगः:-ब्रह्मचारी कहता है कि यदि कोई गोपनीय बात न हो तो आप मेरे द्वारा पूछे गए प्रश्नों का उत्तर देने का कष्ट करें-

अतोऽत्र किञ्चिद्भवतीं बहुक्षमां,
द्विजातिभावादुपपन्नचापलः ।

अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने,
न चेद्रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि ॥४०॥

अन्वयः—हे तपोधने ! अतः अत्र बहुक्षमां भवतीं द्विजातिभावात् उपपन्नचापलः
अयं जनः किञ्चित् प्रष्टुमनाः अस्ति रहस्यं न चेत् प्रतिवक्तुं अर्हसि ।

सञ्जीविनी टीकाः—अत इति । हे तपोधने ! अतः सख्याद्धेतोः अत्र प्रस्तावे
बहुक्षमां बहुवृत्तिसहाम् । यद्वा क्षमावतीम् । भवतीं त्वां द्विजातिभावाद् ब्राह्मणत्वाद्
उपपन्नचापलः सुलभधाष्ट्यः अयं जनः । स्वयमित्यर्थः । किञ्चिद्प्रष्टुं मनो यस्य
स किञ्चित् प्रष्टुमनाः प्रष्टुकामः । 'तु काममनसोरपि' इति मकारलोपः । रहसि भवं
रहस्यं गोप्यं न चेत् प्रतिवक्तुं अर्हसि ।

शब्दार्थः—अतः = इसलिए, तपोधने = हे तपस्विनी !, अत्र = इस विषय में,
बहुक्षमाम् = अत्यधिक क्षमाभाव से युक्त, भवतीम् = आपसे, द्विजातिभावात् =
ब्राह्मण होने के कारण, उपपन्नचापलः = उत्पन्न हुई चपलता वाला, अयम् = यह,
जनः = व्यक्ति (मैं), किञ्चित् = कुछ, प्रष्टुमनाः = पूछने का इच्छुक हूँ, रहस्यम्
= गोपनीय, न = नहीं है, चेत् = यदि, प्रतिवक्तुम् अर्हसि = उत्तर दे सकती हो ।

अनुवादः—इसलिए हे तपस्विनि ! इस विषय में अत्यधिक क्षमाशील आपसे
ब्राह्मणत्व के कारण उत्पन्न हुई चपलता वाला यह व्यक्ति अर्थात् मैं कुछ पूछना
चाहता हूँ । यदि गोपनीय बात न हो तो उत्तर देने की कृपा कीजिए ।

-Eng. Trans.:—Hence, O thou to whom penance is a
treasure, I, in whom curiosity, natural to the twice-born (a
Brāhmana), is aroused, am desirous of asking something to
thee, a lady of great forbearance. If it be not a secret, thou
wilt kindly give a reply.

व्याख्याः—शिव पार्वती की तपस्या का उद्देश्य जानने के लिए उससे पूछ रहे
हैं कि हे तपस्विनि ! मैं ब्राह्मण हूँ । ब्राह्मण स्वभाव से ही प्रगल्भ होते हैं इसी कारण
आपके द्वारा किए जाने वाले तप के विषय में कुछ जानने की दृष्टि से मेरा मन
अत्यधिक उत्सुकतापूर्ण हो गया है । मैं जानना चाहता हूँ कि आप इतना दुष्कर तप
क्यों कर रही हैं ? आप तो स्वभाव से ही अत्यन्त उदार, विनम्र तथा सहनशील

प्रतीत होती हैं। अतः मेरी आपसे प्रार्थना है कि यदि कोई गोपनीय बात न हो तो आप मेरे प्रश्नों का उत्तर देने का कष्ट अवश्य करें।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धि:-अतोऽत्र = अतः + अत्र; किञ्चिद्भवतीम् = किञ्चित् + भवतीम्; प्रष्टुमनास्तपोधने = प्रष्टुमनाः + तपोधने।

समास:-तपोधने = तप एव धनं यस्याः सा इति तपोधना (बहु०) तत्सम्बुद्धौ; बहुक्षमाम् = बह्वी क्षमा यस्यां सा (बहु०) ताम्; द्विजातिभावात् = द्वे जाती यस्य सः द्विजातिः (बहु०) तस्य भावः (ष०त०) तस्मात्; उपपन्नचापलः = उपपन्नं चापलं यस्य सः (बहु०); प्रष्टुमनाः = प्रष्टुं मनः यस्य सः (बहु०); रहस्यम् = रहसि भवम् (स०त०)।

पदपरिचय:-बहुक्षमाम् = बहु + √क्षम् + अण् + टाप् द्वि०वि०एक०; भवतीम् = √भा + डवतु + डीप् द्वि०वि०एक०; रहस्यम् = रहस् + यत् प्र०वि०एक०; प्रतिवक्तुम् = प्रति + √वच् + तुमुन्; अर्हसि = √अर्ह लट् ल०म०पु०एक०।

अलंकार:-परिकर

छन्द:-वंशस्थ।



41. प्रसंग:-संसार में मनुष्यों को प्रायः 'सौन्दर्य, यौवन, सम्पत्ति का सुख और कुलीनता' की ही प्राप्ति की इच्छा होती है। इन्हीं के लिए मनुष्य नाना प्रकार के तप करते हैं, परन्तु ये चारों आपको तो स्वयं सुलभ हैं, फिर किस उद्देश्य से आपके द्वारा यह कठोर तप किया जा रहा है-

कुले प्रसूतिः प्रथमस्य वेधस-

त्रिलोकसौन्दर्यमिवोदितं वपुः।

अमृग्यमैश्वर्यसुखं नवं वय-

स्तपः फलं स्यात्किमतः परं वद॥ 41॥

अन्वय:-प्रथमस्य वेधसः कुले प्रसूतिः, वपुः त्रिलोकसौन्दर्यं इव उदितं, ऐश्वर्यसुखं अमृग्यं, वयः नवं, अतः परं तपः किं फलं स्यात्? वद।

सञ्जीविनी टीका:-कुल इति। प्रथमस्य वेधसः हिरण्यगर्भस्य कुले अन्ववाये

प्रसूतिः उत्पत्तिः। 'यज्ञार्थं हि मया सृष्टे हिमवानचलेश्वरः।' इति ब्रह्मपुराणवचनात्। वपुः शरीरं त्रिलोकसौन्दर्यं त्रयाणां लोकानां सौन्दर्यं इव उदितम् एकत्र समाहृतम्। ऐश्वर्यसुखं सम्पत्सुखं अमृग्यं अन्वेषणीयं न भवति। किंतु सिद्धमेवेत्यर्थः। वयः नवम्। यौवनमित्यर्थः। अतः परम् अतोऽन्यत् किं तपः फलं स्यात् वद। अस्ति चेदिति शेषः। न किंचिदस्तीत्यर्थः।

शब्दार्थः—प्रथमस्य = आदि, वेधसः = प्रजापति के, कुले = वंश में, प्रसूतिः = जन्म, वपुः = शरीर, त्रैलोक्यसौन्दर्यम् = तीनों लोकों का सौन्दर्य, इव मानो, उदितम् = एकत्रित हुआ हो, ऐश्वर्यसुखम् = ऐश्वर्य का सुख, अमृग्यम् = खोजना नहीं है, वयः = आयु, नवम् = नई है, अतः परम् = इससे बढ़कर, तपः फलम् = तपस्या का फल, किम् = क्या, स्यात् = हो सकता है, वद = बताओ।

अनुवादः—आदि पुरुष प्रजापति के वंश में (तुम्हारा) जन्म (हुआ है), (तुम्हारा) शरीर मानो संचित हुआ तीनों लोकों का सौन्दर्य है, सम्पत्ति के सुख को (तुम्हें) ढूँढना नहीं पड़ता (और तुम्हारी) नवीन युवावस्था है, बताओ इससे बढ़कर तपस्या का फल क्या हो सकता है?

Eng. Trans.—Thy birth is in the family of Brahmā, the first progenitor (of mankind); thy body is as if it were the manifestation of the collected beauty of the three worlds; the happiness of affluence need not be sought after by thee (since it is already present); and thine youth is fresh. Say, what blessings, other than these, can be the reward of Penance?

व्याख्याः—शिव पार्वती से कहते हैं कि संसार में प्रायः यह देखा जाता है कि मनुष्य सौन्दर्य, युवावस्था, सम्पत्तियों का सुख और कुलीनता की प्राप्ति के लिए ही कठोर तप आदि करता है। आपके लिए तो ये सभी वस्तुएँ स्वयं ही सुलभ हैं क्योंकि आपका तो जन्म ही प्रथम प्रजापति के कुल में हुआ है जो कुलीनता का सूचक है। तुम्हारा शरीर इतना सुन्दर है कि उसे देखकर ऐसी प्रतीति हो सकती है कि मानो ब्रह्मा ने तीनों लोकों के सौन्दर्य को एकत्रित करके उसी से पार्वती के शरीर का निर्माण किया हो, सम्पत्तियों का सुख तो तुमको स्वतः ही प्राप्त है क्योंकि पार्वती के पिता हिमालय का घर धन-धान्य आदि से परिपूर्ण था अतः उसे सम्पत्ति को खोजने की आवश्यकता ही नहीं थी और तुम्हारे यौवन का

प्रारम्भ तो अभी हुआ है। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त चारों प्राप्य वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य तुम्हारे लिए क्या अप्राप्य है कि जिसके लिए तुम इतना कठोर तप कर रही हो? यह बताओ।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धि:- वेधसस्त्रिलोकसौन्दर्यमिवोदितम् = वेधसः + त्रिलोकसौन्दर्यम् + इव + उदितम्; वयस्तपः = वयः + तपः।

समास:- त्रिलोकसौन्दर्यम् = त्रयाणां लोकानां समाहारः इति त्रिलोकम् (द्विगु), तेषां सौन्दर्यम् (ष०त०); ऐश्वर्यसुखम् = ऐश्वर्यस्य सुखम् (ष०त०); अमृग्यम् = न मृग्यम् (नञ् त०)। तपः फलम् = तपसः फलम् (ष०त०)।

पदपरिचय:- वेधसः = वेधस् शब्द ष०वि०एक०; प्रसूतिः = प्र + √सू + क्तिन् प्र०वि०एक०; उदितम् = उत् + √इ + क्त प्र०वि०एक०; अमृग्यम् = नञ् + √मृग् + यत् प्र०वि०एक०; वद = √वद् लो० ल०म०पु०एक०।

अलंकार:- उत्प्रेक्षा।

छन्द:- वंशस्थ।



42. प्रसंग:- दूसरों के द्वारा अनिष्ट साधन करने पर भी मानिनी स्त्रियाँ कभी-कभी कठोर तप करती हैं किन्तु तुम्हारे विषय में ऐसी आशंका करना भी उचित प्रतीत नहीं होता है-

भवत्यनिष्टादपि नाम दुःसहा-

मनस्विनीनां प्रतिपत्तिरीदृशी।

विचारमार्गप्रहितेन चेतसा

न दृश्यते तच्च कृशोदरि त्वयि॥ 42॥

अन्वय:- दुःसहात् अनिष्टात् अपि मनस्विनीनां ईदृशी प्रतिपत्तिः भवति नाम। हे कृशोदरि! विचारमार्गप्रहितेन चेतसा तत् च त्वयि न दृश्यते।

सङ्गीविनी टीका:- भवतीति। दुःसहात् सोढुमशक्याद् अनिष्टाद् भर्त्रादिकृतात् अपि मनस्विनीनां धीरस्त्रीणां ईदृशी तपश्चरणलक्षणा प्रतिपत्तिः प्रवृत्तिः। 'प्रतिपत्तिस्तु गौरवे। प्राप्तौ प्रवृत्तौ प्रागल्भ्ये' इति केशवः। भवति नाम। नामेति संभावनायाम्। विचारमार्गप्रहितेन विचारमार्गे प्रहितेन चेतसा चित्तेन तद्

अनिष्टं च। हे कृशोदरि! त्वयि न दृश्यते। विचार्यमाणे तदपि नास्त्यसंभावितत्वादित्यर्थः।

शब्दार्थः—दुःसहात् = असहनीय, अनिष्ट्यत् = बुराई (तिरस्कार) से, अपि = भी, मनस्विनीनाम् = मानिनी स्त्रियों की, ईदृशी = ऐसी, प्रतिपत्तिः = प्रवृत्ति, भवति = हो जाती है, नाम = सम्भवतः, कृशोदरि = हे सूक्ष्म कटि वाली!, विचारमार्गप्रहितेन = विचार मार्ग द्वारा भेजे गए, चेतसा = मन से, तत् = वह, त्वयि = तुम्हारे विषय में, न दृश्यते = नहीं दिखता।

अनुवादः—असहनीय तिरस्कार के कारण भी मानिनी स्त्रियों की ऐसी प्रवृत्ति सम्भवतः हो जाती है (परन्तु) हे सुन्दर कटि वाली! विचार पथ पर भेजे गए मन से वह भी तुम्हारे विषय में दिखाई नहीं देती।

Eng. Trans.:—Such a course of action is possibly followed by high-minded ladies when overtaken by an unbearable evil; O thou of slender waist, no such evil can be discovered in thy case by the mind directed through the channel of thought.

व्याख्याः—ब्रह्मचारी वेषधारी शिव पार्वती से कहते हैं कि संसार में ऐसा देखा जाता है कि पति इत्यादि प्रिय जनों के द्वारा तिरस्कृत हो जाने पर मानवती स्त्रियाँ तप इत्यादि करने में प्रवृत्त हो जाती हैं परन्तु हे पार्वती! इस आधार पर भी विचार करने पर मैं ऐसा कोई भी कारण तुम्हारे विषय में नहीं देखता हूँ फिर मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि तुम्हारी इस तपस्या का उद्देश्य क्या है?

व्याकरणात्मक टिप्पणीः—

सन्धिः—भवत्यनिष्ट्यदपि = भवति + अनिष्ट्यत् + अपिः, दुःसहान्मनस्विनीनाम् = दुःसहात् + मनस्विनीनाम्; प्रतिपत्तिरीदृशी = प्रतिपत्तिः + ईदृशी; तच्च = तत् + च।

समासः—दुःसहात् = दुःखेन सह्यते (तृ०त०) तस्मात्; अनिष्ट्यत् = न इष्टम् इति अनिष्टम् (नञ् त०) तस्मात्; मनस्विनीनाम् = प्रशस्तं मनः अस्ति आसामिति मनस्विनी (बहु०) तासाम्; कृशोदरि = कृशम् उदरं यस्याः सा इति कृशोदरी (बहु०) तत्सम्बुद्धौ; विचारमार्गप्रहितेन = विचारस्य मार्गः (ष०त०) तस्मिन् प्रहितः (सुप्सुपा स०) तेन।

पदपरिचयः—दुःसहात् = दुस् + √सह + खल् पं०वि०एक०; अनिष्टत् = नञ् + √इष् + क्त पं०वि०एक०; मनस्विनीनाम् = मनस् शब्द + विन् प्रत्यय + डीप् ष०वि०बहु०; ईदृशी = इदम् + √दृश् + कञ् + डीप् प्र०वि०एक०; प्रतिपत्तिः = प्रति + √पद् + क्तिन् प्र०वि०एक०; भवति = √भू लट् ल०प्र०पु०एक०; चेतसा = चेतस् शब्द तृ०वि०एक०; दृश्यते = √दृश् कर्म० लट् ल०प्र०एक० ।

अलंकारः—उत्प्रेक्षा

छन्दः—वंशस्थ ।



43. प्रसंगः—ब्रह्मचारी उपर्युक्त प्रकार के अनिष्ट की सम्भावना न होने के बारे में तीन कारणों का प्रतिपादन करता है—

अलभ्यशोकाभिभवेयमाकृति-

विमानना सुभ्रु! कुतः पितुर्गृहे।

पराभिमर्शो न तवास्ति कः करं

प्रसारयेत्पन्नगरत्नसूचये ॥43॥

अन्वयः—हे सुभ्रु! इयम् आकृतिः अलभ्यशोकाभिभवा । पितुर्गृहे विमानना कुतः? पराभिमर्शः तव न अस्ति । पन्नगरत्नसूचये कः करं प्रसारयेत् ।

सञ्जीविनी टीकाः—अलभ्येति । हे सुभ्रु! इयं त्वदीया आकृतिः मूर्तिः । अलभ्यशोकाभिभवा अलभ्यो लब्धुमनर्हः । शोकेन भर्त्राद्यवमानजेन दुःखेनाभिभवस्तिरस्कारो यस्याः सा तथोक्ता । दृश्यत इति शेषः । असंभावितश्चायमर्थ इत्याह—पितुः गृहे विमानना अवमानः कुतः । न सम्भाव्यत एवेत्यर्थः । न चाप्यन्यस्माद्भावीत्याह—पराभिमर्शः परधर्षणं तु तव न अस्ति । पन्नगरत्नसूचये फणिशिरोमणिशलाकां ग्रहीतुमित्यर्थः । 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इति चतुर्थी । करं हस्तं कः प्रसारयेत्? 'सुभ्रु' इत्यत्र भ्रूशब्दस्योवङ्स्थानीयत्वात् 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इति नदी संज्ञाप्रतिषेधात् । 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वं नास्ति तेन ह्रस्वः प्रामादिक । इति केचित् । अन्ये तु 'अप्राणिजातेश्चारज्जादीनाम्' इत्यत्र अलाबूः, कर्कन्धूः इत्युकारान्ता-दप्यूङ्प्रत्ययमुदाजहार भाष्यकारः । एतस्मादेव ज्ञापकात्त्वचिदूकारान्तस्याप्यूङ्न्त-त्वान्दीत्वे ह्रस्वत्वमित्याहुः । अत एवाह वामनाः—'ऊकारादप्यूङ्प्रकृतेः इति ।

शब्दार्थः—सुभ्रु = हे सुन्दर भौहों वाली!, इयम् = यह, आकृतिः = आकार,

अलभ्यशोकाभिभवा = शोक और तिरस्कार को प्राप्त करने योग्य नहीं है, पितुः = पिता के, गृहे = घर में, विमानना = अपमान, कुतः = कहाँ, पराभिमर्शः = दूसरों के द्वारा स्पर्श किया जाना, तव = तुम्हारा, न = नहीं, अस्ति = है, पन्नगरत्नसूचये = नाग की मणि के अग्रभाग के लिए, कः = कौन, करम् = हाथ को, प्रसारयेत् = फैलाएगा।

अनुवादः—हे सुन्दर भौहों वाली ! (तुम्हारी) यह आकृति शोक और तिरस्कार को प्राप्त करने योग्य नहीं है। पिता के घर में तिरस्कार कैसे? (तुम्हारा) किसी दूसरे के द्वारा स्पर्श किया जाना (सम्भव) नहीं है क्योंकि नाग की मणि के अग्रभाग के लिए कौन हाथ बढ़ाएगा।

Eng. Trans.:—O thou of beautiful brows, this thy form is incapable of the humiliation of grief; and whence can there be disrespectful treatment under the parental roof? Nor can there be any insult from strangers; (for) who can stretch his hand to snatch away the jet of the lustre of the serpent's gem?

व्याख्याः—शिव पार्वती से कहते हैं कि हे सुन्दरि ! तुम्हें देखने से ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि तुम्हारे ऊपर कोई आपत्ति आई है। पति के घर में मानिनी स्त्रियों को सपत्नियों द्वारा कुछ कष्ट हो सकता है, किन्तु तुम तो अभी कुमारी हो और अपने पिता की परम प्रिय पुत्री हो, अतः तुम्हारे सम्बन्ध में ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती। तुम पर किसी के द्वारा बलात्कार किया गया है, ऐसी भी सम्भावना नहीं की जा सकती, क्योंकि तुम्हारे पिता तो पर्वतराज तथा चक्रवर्ती हैं। ऐसा दुःसाहस किस व्यक्ति में हो सकता है कि वह विषधर सर्प की मणि को पकड़ने के लिए अपने हाथ बढ़ाए।

व्याकरणात्मक टिप्पणीः—

सन्धिः—पितुर्गृहे = पितुः + गृहे; तवास्ति = तव + अस्ति।

समासः—सुभ्रु = शोभने भ्रुवौ यस्याः सा (बहु०) तत्सम्बुद्धौ; अलभ्य-शोकाभिभवा = न लभ्यम् अलभ्यम् (नञ् त०), शोकेन अभिभवः (तृ०त०); अलभ्यः शोकाभिभवः यस्याः सा (बहु०); पराभिमर्शः = परेषाम् अभिमर्शः (ष०त०); पन्नगरत्नसूचये = पन्नं निम्नं गच्छतीति पन्नगः (सुप्सुपा स०), रत्नस्य सूचिः इति रत्नसूचिः (ष०त०), पन्नगस्य रत्नसूचिः (ष०त०) तस्यै।

पदपरिचयः—पितुः = पितृ शब्द ष०वि०एक०; विमानना = वि + √मन् + णिच् + युच् प्र०वि०एक०; अभिमर्शः = अभि + √मृष् + घञ् प्र०वि०एक०; प्रसारयेत् = प्र + √सृ + णिच् विधि०ल० प्र०पु०एक०।

अलंकारः—अर्थान्तरन्यास

छन्दः—वंशस्थ ।



44. प्रसंगः—ब्रह्मचारी पार्वती से प्रश्न करता है कि उसने युवावस्था में आभूषणादि का त्याग कर वृद्धावस्था में धारण करने योग्य वल्कल वस्त्रों को क्यों धारण किया है -

किमित्यपास्याभरणानि यौवने,

धृतं त्वया वार्धकशोभि वल्कलम्।

वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका,

विभावरी यद्वरुणाय कल्पते ॥ 44 ॥

अन्वयः—त्वया यौवने आभरणानि अपास्य वार्धकशोभि वल्कलं किमिति धृतम्? प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका विभावरी अरुणाय कल्पते यदि वद?।

सञ्जीविनी टीकाः—किमिति ॥ हे गौरि किमिति केन हेतुना यौवने त्वया आभरणानि अपास्य विहाय। वृद्धस्य भावो वार्धकम्। मनोज्ञादित्वाद् वुञ् प्रत्ययः। 'वार्धकं वृद्धसंघाते वृद्धत्वे वृद्धकर्मणि' इति विश्वः। तत्र शोभते इति वार्धकशोभि वल्कलं धृतम्। प्रदोषे रजनीमुखे स्फुटः प्रकटः चन्द्रस्तारकाश्च यस्याः सा स्फुटचन्द्रतारका विभावरी रात्रिः अरुणाय सूर्यसुताय कल्पते यदि अरुणं गन्तुं कल्पते किम्। वद ब्रूहि। 'क्रियार्थोपपदस्य-' इत्यादिना चतुर्थी। दीप्यमान-शशाङ्कतारके प्रदोषे यद्वरुण उदेति ततो विभूषणापहारेण तव वल्कलधारणं संघटत इति भावः।

शब्दार्थः—त्वया = तुमने, यौवने = युवावस्था में, आभरणानि = आभूषणों को, अपास्य = दूर फेंककर, वार्धकशोभि = वृद्धावस्था में पहनने योग्य, वल्कलम् = वृक्ष की छाल को, किम् इति = क्यों, धृतम् = धारण किया है, स्फुटचन्द्रतारका = चन्द्रमा और तारों से प्रकाशित, विभावरी = रात्रि, अरुणाय = प्रातः कालीन लालिमा को धारण करने में, कल्पते यदि = समर्थ हो सकती है क्या, वद = बतलाओ।

अनुवादः—तुमने युवावस्था में आभूषणों को दूर फेंककर वृद्धावस्था में शोभा पाने वाली वृक्ष की छाल को क्यों धारण किया है? (तुम ही) बतलाओ, क्या चमकते हुए चन्द्रमा और तारों वाली रात्रि प्रातः कालीन लालिमा को धारण करने में समर्थ हो सकती है?

Eng. Trans.—Why is it that, having abandoned ornaments, thou hast, in youth, put on a bark-garment suitable to old age (only)? Say if the night at its beginning, with the moon and the stars prominently displayed, is fit to receive the (approach of) dawn.

व्याख्याः—शिव पार्वती से कहते हैं कि मनुष्य प्रायः वृद्धावस्था के आने पर ही तपस्या का आचरण करते हैं तथा वल्कल वस्त्रों को धारण करते हैं। युवावस्था में तो वे नाना प्रकार के आभूषणों के द्वारा शरीर को सुसज्जित करते हैं, किन्तु तुम्हारा आचरण तो इसके प्रतिकूल ही है। तुमने तो युवावस्था में ही अपने सुन्दर आभूषणों को त्याग कर वल्कल वस्त्रों को धारण कर लिया है। इसका क्या कारण है? हे पार्वती! सायंकालीन रात्रि की शोभा चन्द्रमा और नक्षत्रों से बढ़ती है, प्रातः कालीन बाल अरुण से नहीं। अतएव इस युवावस्था में तुम्हारा वल्कल धारण करना नितान्त अनुचित ही प्रतीत होता है। अर्थात् जैसे प्रारम्भिक रात्रि प्रातः कालीन लालिमा को धारण करने में समर्थ नहीं हो सकती है उसी प्रकार पार्वती का भी युवावस्था में वल्कल वस्त्र धारण करना उचित नहीं है।

व्याकरणात्मक टिप्पणीः—

सन्धिः—किमित्यपास्याभरणानि = किम् + इति + अपास्य + आभरणानि; यद्वरुणाय = यदि + अरुणाय।

समासः—वार्द्धकशोभि = वृद्धस्य भावः इति वार्द्धकम् (ष०त०), तस्मिन् शोभते (स०त०); स्फुटचन्द्रतारका = चन्द्रश्च तारकाश्च इति चन्द्रतारकाः (द्वन्द्व स०), स्फुटः चन्द्रतारकाः यस्यां सा (बहु०)।

पदपरिचयः—यौवने = युवन् शब्द + अण् स०वि०एक०; आभरणानि = आ + √भृ + ल्युट् द्वि०वि०बहु०; अपास्य = अप + √अस् + ल्यप्; धृतम् = √धृ + क्त प्र०वि०एक०; विभावरी = वि + √भा + वरच् + डीप् प्र०वि०एक०; कल्पते = √क्लृप् लट् ल०प्र०पु०एक०; वद = √वद् लोट् ल०म०पु०एक०।

अलंकारः—उपमा ।

छन्दः—वंशस्थ ।



45. प्रसंगः—यदि तप का कोई दूसरा ही प्रयोजन है, तब उसकी भी संभावना करना व्यर्थ ही है क्योंकि —

दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः,

पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः ।

अथोपयन्तारमलं समाधिना,

न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ॥ 45 ॥

अन्वयः—दिवं प्रार्थयसे यदि, (तर्हि) श्रमः वृथा, तव पितुः प्रदेशाः देवभूमयः । अथ उपयन्तारं प्रार्थयसे, (तर्हि) समाधिना अलं, रत्नं न अन्विष्यति हि तत् मृग्यते ॥

सञ्जीविनी टीकाः—दिवमिति ॥ दिवं स्वर्गं प्रार्थयसे कामयसे यदि तर्हि श्रमः तपश्चरणप्रयासः वृथा निष्फलः । यदि स्वर्गार्थं तप्यसे ततः श्रमं मा कार्षीः । कुतः । तव पितुः हिमवतः प्रदेशाः देवभूमयः । स्वर्गपदार्थाः तत्रत्या इत्यर्थः । अथ उपयन्तारं वरं प्रार्थयसे तर्हि समाधिना तपसा अलम् । न कर्तव्यमित्यर्थः । निषेध्यस्य निषेधं प्रति करणत्वात्तृतीया । तथा हि । रत्नम् । कर्तुं । अन्विष्यति न मृगयते । ग्रहीतारमिति शेषः । किं तु तत् रत्नं मृग्यते । ग्रहीतृभिरिति शेषः । न हि वरार्थं त्वया तपसि वर्तितव्यं किं तु तेनैव त्वदर्थमिति भावः ।

शब्दार्थः—दिवम् = स्वर्ग को, प्रार्थयसे = चाहती हो, यदि=यदि, श्रमः = परिश्रम करना, वृथा = व्यर्थ है, तव = तुम्हारे, पितुः = पिता के, प्रदेशाः = स्थान, देवभूमयः = देवताओं के निवास स्थान हैं, अथ = यदि, उपयन्तारम् = वर को, (प्रार्थयसे = चाहती हो), समाधिना = तपस्या, अलम् = बन्द करो, रत्नम् = रत्न को, न = नहीं, अन्विष्यति = ढूँढ़ता है, हि = निश्चय ही, तत् = वह, मृग्यते = ढूँढ़ा जाता है ।

अनुवादः—यदि (तुम) स्वर्ग को चाहती हो, (तो तुम्हारा) परिश्रम करना व्यर्थ है, (क्योंकि) तुम्हारे पिता के प्रदेश (ही) देवताओं के निवास स्थान हैं और यदि वर को (चाहती हो), तो तपस्या बन्द करो, क्योंकि रत्न को नहीं ढूँढ़ते हैं, वह तो ढूँढ़ा जाता है ।

Eng. Trans.:-If thou art seeking heaven, thy effort is vain, (since) the regions (on the slopes) of thy father are the land of gods. And if thou dost desire a (suitable) husband, cease from thy austerities; (for) a jewel is sought after, and has not to seek.

व्याख्या:—शिव पार्वती से उसकी तपस्या के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए कहते हैं कि यदि तुम स्वर्ग-प्राप्ति की दृष्टि से इस कठोर तप को कर रही हो तब तो तुम्हारी तपस्या पूर्णतया निरर्थक ही है क्योंकि स्वर्ग के स्थल तो तुम्हारे पिता की भूमि ही है। यदि किसी योग्य पति की प्राप्ति के उद्देश्य से इस तप को कर रही हो तो भी तुम्हारी तपस्या व्यर्थ ही है क्योंकि रत्न अपने ग्राहक की खोज स्वयं ही नहीं करता है, अपितु ग्राहक ही उस रत्न की खोज में लगा रहता है और तुम रत्न के समान सर्वगुण सम्पन्न हो, अतः तुम्हारे योग्य पति स्वयं ही उपस्थित होकर तुम्हारा वरण कर लेगा। तुमको उसे खोजने की आवश्यकता नहीं है। और इसके लिए तपस्या करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:—

सन्धि:—प्रदेशास्तव = प्रदेशाः + तव; अथोपयन्तारमलम् = अथ + उपयन्तारम् + अलम्।

समास:—देवभूमयः = देवानां भूमयः (ष०त०); उपयन्तारम् = उप यच्छतीति उपयन्ता (उपपद स०)तम्।

पदपरिचय:—प्रार्थयसे = प्र + √अर्थ् + णिच् लट् ल०म०पु०एक०; श्रमः = √श्रम् प्र०वि०एक०; पितुः = पितृ शब्द ष०वि०एक०; उपयन्तारम् = उप + √यम् + तृच् द्वि०वि०एक०; अन्विष्यति = अनु + √इष् लट् ल०प्र०पु०एक०; मृग्यते = √मृज् कर्मणि यक् लट् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकार:—अर्थान्तरन्यास

छन्द:—वंशस्थ।



46. प्रसंगः:—पार्वती द्वारा ली गई लम्बी श्वास को देखकर ब्रह्मचारी अनुमान पूर्वक पुनः कहता है -

निवेदितं निःश्वसितेन सोष्मणा,
 मनस्तु मे संशयमेव गाहते।
 न दृश्यते प्रार्थयितव्य एव ते,
 भविष्यति प्रार्थितदुर्लभः कथम्? ॥४६॥

अन्वयः—सोष्मणा निःश्वसितेन निवेदितं मे मनस्तु संशयम् एव गाहते। ते प्रार्थयितव्यः एव न दृश्यते प्रार्थितदुर्लभः कथं भविष्यति।

सञ्जीविनी टीकाः—निवेदितमिति ॥ सोष्मणा निःश्वसितेन निःश्वासवायुना निवेदितम्। चिन्तानुभावेनोष्णोच्छ्वासेन ते वरार्थित्वं सूचितमित्यर्थः। तहिं किं प्रश्नव्यसनेनेत्याह—मे मनः तु तथापि संशयम् एव गाहते प्राप्नोति। कुतः। ते तव। 'कृत्यानां कर्तारि वा' इति षष्ठी। प्रार्थयितव्यः प्रार्थयितुमर्ह एव न दृश्यते। प्रार्थितदुर्लभः प्रार्थितो यो दुर्लभः स कथं भविष्यति नास्त्येवेत्यर्थः।

शब्दार्थः—सोष्मणा = गरम, निःश्वसितेन = सांस ने, निवेदितम् = व्यक्त कर दिया है, मे = मेरा, मनः = मन, तु = तो, संशयम् = संदेह में, एव = ही, गाहते = डूब रहा है, ते = तुम से, प्रार्थयितव्यः = प्रार्थना करने योग्य, एव = ही, न = नहीं, दृश्यते = दिखलाई पड़ता, प्रार्थितदुर्लभः = प्रार्थना किए जाने पर दुर्लभ, कथम् = कैसे, भविष्यति = होगा?

अनुवादः—(यद्यपि तुम्हारी) गरम लम्बी सांस ने (तुम्हारी वर-प्राप्ति की इच्छा को) सूचित कर दिया है, (तथापि) मेरा मन तो सन्देह में ही डूब रहा है, (क्योंकि) तुम्हारे द्वारा प्रार्थना किये जाने योग्य (वर) दिखलाई नहीं पड़ता, (फिर भला) प्रार्थना किए जाने पर वह दुर्लभ कैसे होगा?

Eng. Trans.:—Thy hot sighs have betrayed (thy secret); and yet my mind is still more plunged in doubts; I see not that there is any one who (as a husband) is at all to be sought after by thee; how can there be one then, who is unobtainable when sought after?

व्याख्याः—पार्वती की लम्बी गरम सांसों के सम्बन्ध में शिव उससे कहते हैं कि तुमने जो अभी लम्बी सांस ली है उससे मैं अनुमान करता हूँ कि योग्य वर-प्राप्ति की इच्छा ही तुम्हारी तपस्या का कारण है क्योंकि ब्रह्मचारी द्वारा वर शब्द का उच्चारण किए जाने पर ही पार्वती ने कोई उत्तर न देकर लम्बी सांस ही छोड़ी। जिससे ब्रह्मचारी ने यह समझ लिया कि पार्वती के तप का उद्देश्य योग्य

वर-प्राप्ति ही है। शिव पुनः पार्वती से कहते हैं कि यह भी मुझे युक्ति युक्त प्रतीत नहीं होता है क्योंकि तुम सबकी प्रार्थना की वस्तु हो फिर भी तुम्हारा प्रार्थित कोई व्यक्ति दुर्लभ होगा -यह तीनों लोकों में असम्भव है। भाव यह है कि ब्रह्मचारी अपने सन्देह का कारण स्पष्ट करते हुए कहता है कि मेरी दृष्टि में ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं होगा जो रूपादि गुणों में तुमसे श्रेष्ठ हो तथा जिसकी प्राप्ति के लिए तुम्हें खोज करनी पड़े और दूसरे तुम्हारे द्वारा वर रूप में स्वीकार किए जाने पर ऐसा कोई व्यक्ति नहीं होगा कि जो अपना सौभाग्य न समझे।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धि:-मनस्तु = मनः + तु; प्रार्थयितव्य एव = प्रार्थयितव्यः + एव।

समास:-सोष्मणा = उष्मणा सह वर्तमानमिति सोष्म (बहु०) तेन; प्रार्थितदुर्लभः = दुःखेन लब्धुं शक्यः इति दुर्लभः; प्रार्थितश्च दुर्लभः च (कर्म०)।

पदपरिचय:-निःश्वसितेन = निस् + √श्वस् + क्त तृ०वि०एक०; निवेदितम् = नि + √विद् + णिच् + क्त प्र०वि०एक०; गाहते = √गाह लट् ल०प्र०पु०एक०; प्रार्थयितव्यः = प्र + √अर्थ + णिच् + तव्यत् प्र०वि०एक०; भविष्यति = √भू लृट् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकार:-काव्यलिङ्ग

छन्द:-वंशस्थ।



47. प्रसंग:-शिव पार्वती द्वारा चाहे गए व्यक्ति अर्थात् स्वयं को कठोर बताने की चेष्टा कर रहे हैं-

अहो स्थिरः कोऽपि तवेप्सितो युवा,

चिराय कर्णोत्पलशून्यतां गते।

उपेक्षते यः श्लथलम्बिनीर्जटाः,

कपोलदेशे कलमाग्रपिङ्गलाः॥47॥

अन्वय:-अहो! तव ईप्सितः युवा कोऽपि स्थिरः यः चिराय कर्णोत्पलशून्यतां गते कपोलदेशे श्लथलम्बिनीः कलमाग्रपिङ्गलाः जटाः उपेक्षते।

सञ्जीविनी टीका:-अहो इति॥ अहो चित्रम्। तव ईप्सितः आप्तुमिष्टः

युवा कः अपि स्थिरः कठिनः। वर्तत इति शेषः। कुतः यः युवा चिराय चिरात्प्रभृति कर्णोत्पलशून्यतां गते प्राप्ते कपोलदेशे गण्डस्थले श्लथाः शिथिलबन्धना अत एव लम्बिन्यस्ताः श्लथलम्बिनीः कलमाग्रपिङ्गलाः कलमाः शालिविशेषास्तेषामग्राणि तद्वत्पिङ्गला जयः उपेक्षते। यस्त्वामीदृशीं दृष्ट्वा न व्यथते स नूनं वज्रहृदय इत्यर्थः।

शब्दार्थः—अहो = आश्चर्य है!, तव = तुम्हारा, ईप्सितः = इच्छित, युवा = युवक, कोऽपि = कोई भी, स्थिरः = कठोर है, यः = जो, चिराय = चिरकाल से, कर्णोत्पलशून्यताम् = कर्णफूल के समान कमलों की शून्यता को, गते = प्राप्त होने पर, कपोलदेशे = गालों के ऊपर, श्लथलम्बिनीः = ढीली और लटकने वाली, कलमाग्रपिङ्गलाः = कलम नामक धान के अग्रभाग के समान पीली, जयः = जयओं की, उपेक्षते = उपेक्षा कर रहा है।

अनुवादः—आश्चर्य है! तुम्हारा अभिलषित युवक कोई कठोर हृदय वाला है जो चिरकाल से कर्णफूल के समान कमलों की शून्यता को प्राप्त होने पर गालों के ऊपर ढीली एवं लटकती हुई धान के अग्रभाग के समान पीली जयओं की उपेक्षा कर रहा है।

Eng. Trans.:—The young man thou yearnest after, must indeed be hard-hearted, since he still holds off, seeing the matted hair, tawny like the tips of the blades of paddy, hanging loosely on thy broad cheeks from which the ear-lotus has been long cast off.

व्याख्याः—ब्रह्मचारी वेषधारी शिव पार्वती से कहते हैं कि आश्चर्य की बात है कि तुम जिस युवक को पति के रूप में स्वीकार करना चाहती हो, वह अत्यन्त अभिमानी और निर्दयी प्रतीत होता है, जो बहुत दिनों से कर्णफूल से रहित तुम्हारे गालों पर लटकती हुई इन जयओं को देखकर भी तुम्हारी उपेक्षा कर रहा है। वास्तव में वन में निवास करने वाली स्त्रियाँ शृङ्गार के लिए कानों में कमल पहनती थीं। पार्वती भी पहले अपने कानों में कमलों को लगाती थी किन्तु तपस्या का व्रत ले लेने पर उसने उनका त्याग कर दिया था। अतः उसका गाल उस कमल से रहित हो गया था।

व्याकरणात्मक टिप्पणीः—

सन्धिः—कोऽपि = कः + अपि; तवेप्सितो = तव + ईप्सितः।

समासः—कर्णोत्पलशून्यताम् = कर्णयोः उत्पले इति कर्णोत्पले (स०त०),

ताभ्यां शून्यः कर्णोत्पलशून्यः (पं०त०), तस्य भावः (ष०त०) ताम्; कपोलदेशे = कपोल एव देशः (कर्म०) तस्मिन्; श्लथलम्बिनीः = श्लथाश्च लम्बिन्यश्च इति श्लथलम्बिन्यः (द्वन्द्व स०) ताः; कलमाग्रापिङ्गलाः = कलमानाम् अग्राणि इति कलमाग्राणि (ष०त०) तानि इव पिङ्गलाः (कर्म०) ।

पदपरिचयः—ईप्सितः = √आप् + सन् + क्त प्र०वि०एक०; गते = √गम् + क्त स०वि०एक०; लम्बिनीः = √लम्ब् + णिनि + डीप् द्वि०वि०एक०; उपेक्षते = उप + √ईक्ष् लट् ल०प्र०पु०एक० ।

अलंकारः—उल्लास

छन्दः—वंशस्थ ।



48. प्रसंगः—वस्तुतः तुम्हारा अभिलषित व्यक्ति पत्थर के समान अचेतन ही है क्योंकि वह तुम्हारी इस प्रकार की दयनीय दशा को देखकर भी द्रवीभूत नहीं होता —

मुनिव्रतैस्त्वामतिमात्रकर्षितां,

दिवाकराप्लुष्टविभूषणास्पदाम् ।

शशाङ्कलेखामिव पश्यतो दिवा,

सचेतसः कस्य मनो न दूयते ॥ 48 ॥

अन्वयः—मुनिव्रतैः अतिमात्रकर्षितां दिवाकराप्लुष्टविभूषणास्पदां दिवा शशाङ्कलेखाम् इव त्वां पश्यतः सचेतसः कस्य मनः न दूयते ।

सङ्गीविनी टीकाः—मुनिव्रतैरिति ॥ मुनिव्रतैः चान्द्रायणादिभिः अतिमात्र-कर्षिताम् अतिमात्रमत्यन्तं कर्षितां कृशीकृतां दिवाकराप्लुष्टविभूषणास्पदां दिवाकरेण सूर्येणाप्लुष्टानि दग्धानि वातातपसंस्पर्शान्मृदुत्वाच्च श्यामीकृतानि विभूषणास्पदानि भूषणस्थानानि यस्यास्तां तथोक्ताम् । अत एव दिवा अहनि शशाङ्कलेखामिव स्थितां त्वां पश्यतः सचेतसः जीवतः कस्य पुंसो मनः न दूयते न परितप्यते । अपि तु सर्वस्यैवेत्यर्थः ।

शब्दार्थः—मुनिव्रतैः = मुनि के योग्य व्रतों से, अतिमात्रकर्षिताम् = अत्यन्त दुबली बनाई गई, दिवाकराप्लुष्टविभूषणास्पदाम् = सूर्य की किरणों के द्वारा झुलसाए गए आभूषणों के स्थान वाली, दिवा = दिन में, शशाङ्कलेखाम् = चन्द्रमा

की रेखा के, इव = समान, त्वाम् = तुझको पश्यतः = देखते हुए, सचेतसः = सहृदय, कस्य = किसका, मनः = मन, न दूयते = दुःखी नहीं होता।

अनुवादः—मुनियों के (योग्य) व्रतों के द्वारा अत्यन्त दुबली बनाई गई, सूर्य की किरणों के द्वारा झुलसाए गए आभूषणों के स्थानों वाली तथा दिन में चन्द्रमा की रेखा के समान तुझको देखते हुए किस सहृदय का मन दुःखी नहीं होता।

Eng. Trans.:—Of what person, having a heart, the mind is not afflicted, on seeing thee, extremely emaciated by the observance of saintly vows, with the places of ornaments scorched mercilessly by the sun and therefore looking like the crescent of the moon by day?

व्याख्याः—शिव पार्वती से कह रहे हैं कि हे पार्वती! चन्द्रायण आदि व्रतों को करने से तुम अत्यन्त दुर्बल हो गई हो, जिन अङ्गों में तुम आभूषणों को धारण करती थीं वे अङ्ग तपस्या के कारण सूर्य की किरणों से जल गए थे अर्थात् काले हो गए थे। जैसे दिन में सूर्य के प्रकाश के कारण मन्द हुई शोभा से युक्त रेखा रूप में विद्यमान चन्द्रमा की अवस्था अत्यन्त दयनीय हो जाती है उसी प्रकार इस समय तुम्हारी अवस्था भी हो गई है। ऐसा कौन व्यक्ति होगा कि जो तुम्हारी ऐसी दयनीय दशा को देखकर भी दुःख का अनुभव नहीं करता होगा?

व्याकरणात्मक टिप्पणीः—

सन्धिः—मुनिव्रतैस्त्वामतिमात्रकर्षिताम् = मुनिव्रतैः + त्वाम् + अतिमात्रकर्षिताम्; शशाङ्कलेखामिव = शशाङ्कलेखाम् + इव; पश्यतो दिवा = पश्यतः + दिवा; मनो न = मनः + न।

समासः—मुनिव्रतैः = मुनीनां व्रतानि इति मुनिव्रतानि (ष०त०) तैः; अतिमात्रकर्षिताम् = मात्राम् अतिक्रान्तम् इति अतिमात्रम् (प्रादि त०), अतिमात्रं यथा स्यात् तथा कर्षिता (सुप्सुपा स०) ताम्; दिवाकराप्लुष्टविभूषणास्पदम् = दिवाकरेण आप्लुष्टानि (तृ०त०), विभूषणानाम् आस्पदानि (ष०त०), दिवाकराप्लुष्टानि विभूषणास्पदानि यस्याः सा (बहु०) ताम्; शशाङ्कलेखाम् = शशः अङ्के यस्य सः इति शशाङ्कः (बहु०) तस्य लेखा (ष०त०) ताम्; सचेतसः = चेतसा सह वर्तमानः इति सचेताः (बहु०) तस्य।

पदपरिचयः—कर्षिताम् = √कृश् + णिच् + क्त + टप् द्वि०वि०एक०;

दिवाकर = दिवा + √कृ + ट; आप्लुष्ट = आ + √प्लुष् + क्त; विभूषण = वि + √भूष् + ल्युट्; आस्पदाम् = आ + √पद् + घञ् द्वि० वि० एक०; पश्यतः = √दृश् + शत् पु० ष० वि० एक०; दूयते = √दू लट् ल० प्र० पु० एक० ।

अलंकारः—उपमा

छन्दः—वंशस्थ ।

49. प्रसंगः—अब शिव पार्वती के द्वारा मनोनीत वर के विषय में उलाहना देते हुए कहते हैं—

अवैमि सौभाग्यमदेन वञ्चितं,

तव प्रियं यश्चतुरावलोकिनः ।

करोति लक्ष्यं चिरमस्य चक्षुषो,

न वक्त्रमात्मीयमरालपक्ष्मणः ॥ 49 ॥

अन्वयः—तव प्रियं सौभाग्यमदेन वञ्चितम् अवैमि । यः चतुरावलोकिनः अरालपक्ष्मणः अस्य चक्षुषः आत्मीयं वक्त्रं चिरं लक्ष्यं न करोति ।

सङ्गीविनी टीकाः—अवैमीति ॥ तव प्रियं वल्लभं सौभाग्यमदेन सौन्दर्यवर्गेण । कर्त्रा । वञ्चितं विप्रलब्धम् अवैमि वेद्मि । यः प्रियश्चतुरं मधुरवलोकित इति चतुरावलोकिनः अरालपक्ष्मणः कुटिलरोम्णः । ‘अरालं वृजिनं जिह्वम्’ इत्यमरः । अस्य त्वदीयस्य चक्षुषः आत्मीयं वक्त्रं मुखं चिरं लक्ष्यं विषयं न करोति । दृष्टिपथं न गच्छतीत्यर्थः । तदयं गर्वेण हतो निष्फलात्मलाभो जाता इति भावः ।

शब्दार्थः—तव = तुम्हारे, प्रियम् = प्रियतम को, सौभाग्यमदेन = सौन्दर्य के अभिमान से, वञ्चितम् = ठगा हुआ, अवैमि = समझता हूँ, यः = जो, चतुरावलोकिनः = सुन्दर दिखने वाली, अरालपक्ष्मणः = कुटिल भौंहो वाली, अस्य = इसकी, चक्षुषः = आँख के सामने, आत्मीयम् = अपने, वक्त्रम् = मुख को, चिरम् = देर तक, लक्ष्यम् = लक्ष्य, न = नहीं, करोति = बनाता ।

अनुवादः—मैं तुम्हारे प्रियतम को सौन्दर्य के अभिमान से ठगा हुआ समझता हूँ जो मधुर चितवन वाली और कुटिल भौंहो वाली (तुम्हारी) इस आँख के (सामने) अपने मुख को चिरकाल से निशाना नहीं बना रहा ।

Eng. Trans.:—I take thy lover to be cheated by the pride of his beauty, since he does not, for a long time, make his face

the mark for (i.e. present himself to the view of) thy eyes of lovely glances and arching eye-lashes.

व्याख्याः—शिव पार्वती से उसके प्रियतम के सम्बन्ध में कहते हैं कि हे पार्वती! तुम जिस युवा पुरुष को अपने पति के रूप में प्राप्त करने की इच्छा रखती हो, वह अपने सौन्दर्य के मिथ्या अभिमान में है, ऐसा मुझे प्रतीत होता है। इसी कारण वह तुम्हारे सौन्दर्य का लाभ प्राप्त नहीं कर रहा है। वह अपने को तुम्हारी अपेक्षा अधिक सुन्दर समझ रहा है। यही उसका झूठा अभिमान है और इसी के द्वारा वह ठगा जा रहा है।

व्याकरणात्मक टिप्पणीः—

सन्धिः—यश्चतुरावलोकिनः = यः + चतुरावलोकिनः; चिरमस्य = चिरम् + अस्य; वक्त्रमात्मीयमरालपक्ष्मणः = वक्त्रम् + आत्मीयम् + अरालपक्ष्मणः।

समासः—सौभाग्यभवेन = सुभगस्य भावः इति सौभाग्यम् (ष०त०), तस्य मदः (ष०त०) तेन; चतुरावलोकिनः = चतुरम् अवलोकते (द्वि०त०) तस्य; अरालपक्ष्मणः = अरालानि पक्ष्माणि यस्य तत् (ब०त०) तस्य।

पदपरिचयः—प्रियम् = √प्री + क द्वि०वि०एक; सौभाग्य = सुभग + ष्यञ्; चतुर्भुजम् = √वज् + णिच् + क्त प्र०वि०एक०; अवैमि = अव + √इ लट् ल०उ०पु०एक०, चतुरावलोकिनः = चतुर + अव + √लोक + णि । ष०वि०एक०; आत्मीयम् = आत्मन् + छ द्वि०वि०एक०; लक्ष्यम् = √लक्ष + णिच् + यत् प्र०वि०एक; करोति = कृ लट् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकारः—काव्यलिङ्ग, अनुमान

छन्दः—वंशस्थ।



50. प्रसंगः अब वह ब्रह्मचारी उसी अभिलषित वर के विषय में पूछ रहा है।

कियच्चिरं श्राम्यसि गौरि! विद्यते,

ममापि पूर्वाश्रमसञ्चितं तपः।

तदर्धभागेन लभस्व काङ्क्षितं,

वरं तमिच्छामि च साधु वेदितुम् ॥ 50 ॥

अन्वयः—हे गौरि! कियत् चिरं श्राम्यसि? मम अपि पूर्वाश्रमसञ्चितं तपः विद्यते। तदर्धभागेन च काङ्क्षितं वरं लभस्व। तं साधु वेदितुम् इच्छामि।

सञ्जीविनी टीकाः—कियदिति।। हे गौरि। कियत् किंप्रमाणकम् किमधिकमित्यर्थः। चिरं श्राम्यसि तपस्यसि। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। ममापि पूर्वाश्रमसंचितं पूर्वाश्रमः प्रथमाश्रमो ब्रह्मचर्याश्रमस्तत्र संचितं सम्पादितं तपः विद्यते। तदर्धभागेन अर्धश्चासौ भागश्च तेन तस्य तपसोऽर्धभागेनैकदेशेन काङ्क्षितम् इष्टं वरम् उपयन्तारं लभस्व। तं च वरं साधु सम्यक् वेदितुं ज्ञातुम् इच्छामि च। यद्यसौ योग्यो भवति तदा ममापि संमतिरिति भावः।

शब्दार्थः—हे गौरि = हे पार्वती! कियत् = कितनी, चिरम् = देर तक, श्राम्यसि = तपस्या करोगी, मम = मेरा, अपि = भी, पूर्वाश्रमसञ्चितम् = ब्रह्मचर्याश्रम में एकत्रित किया हुआ, तपः = तप, विद्यते = है, तदर्धभागेन = उसके आधे भाग से, काङ्क्षितम् = मनचाहे, वरम् = वर को, लभस्व = प्राप्त कर लो, तम् = उसको, साधु = अच्छी तरह, वेदितुम् = जानना, इच्छामि = चाहता हूँ।

अनुवादः—हे पार्वती! कितनी देर तक (तपस्या का) श्रम करोगी? मेरा भी ब्रह्मचर्याश्रम में एकत्र किया हुआ तप है, उसके आधे भाग से मनचाहे वर को प्राप्त कर लो, (परन्तु पहले मैं) उसे भली भाँति जानना चाहता हूँ।

Eng. Trans.—O Gauri, how long wilt thou torture thyself? I too have religious merit accumulated in my first stage of life. Do thou get thy desired husband by (the grant of) a half of it; him, however, I desire to know well (fully)."

व्याख्याः—शिव पार्वती से कह रहे हैं कि पार्वती! अब तुम अपनी तपस्या बन्द कर दो। तुम्हारी इतनी ही तपस्या तुम्हारे मनचाहे वर की प्राप्ति के लिए पर्याप्त है। किन्तु यदि तुम उसको अब भी अपर्याप्त समझती हो तो मेरे द्वारा ब्रह्मचर्याश्रम में एकत्रित किए गए तप में से आधा तप तुम ले लो और अपने मनचाहे वर की प्राप्ति कर लो। किन्तु पहले मुझे उस वर का परिचय अवश्य दे दो, मैं उसके विषय में जानने के लिए उत्सुक हूँ।

व्याकरणात्मक टिप्पणीः—

सन्धिः—कियच्चिरम् = कियत् + चिरम्; ममापि = मम + अपि; तमिच्छामि = तम् + इच्छामि।

समासः—पूर्वाश्रमसञ्चितम् = पूर्वश्च असौ आश्रमः पूर्वाश्रमः (कर्म०) तस्मिन् सञ्चितम् (स०त०) तम्; तदर्धभागेन = अर्धः भागः अर्धभागः (कर्म०) तस्य अर्धभागः (ष०त०) तेन, काङ्क्षितम् = काङ्क्षा यस्य सः (बहु०) तम्।

पदपरिचयः—श्राम्यसि = $\sqrt{\text{श्रम् लट् ल०म०पु०एक०}}$; सञ्चितम् = सम् + $\sqrt{\text{चि + क्त प्र०वि०एक०}}$; विद्यते = $\sqrt{\text{विद् + यक् लट् ल०प्र०पु०एक०}}$; लभस्व = $\sqrt{\text{लभ् लोट् ल०म०पु०एक०}}$; वेदितुम् = $\sqrt{\text{विद् + तुमुन्}}$; इच्छामि = $\sqrt{\text{इष् लट् ल०उ०पु०एक०}}$ ।

अलंकारः—गूढोक्ति

छन्दः—वंशस्थ ।



51. प्रसंगः—ब्रह्मचारी की उपर्युक्त बातों को सुनकर पार्वती ने अपनी सखी को उत्तर देने के लिए इशारा किया —

इति प्रविश्याभिहिता द्विजन्मना,

मनोगतं सा न शशाक शंसितुम् ।

अथो वयस्यां परिपार्श्ववर्तिनीं,

विवर्तितानञ्जननेत्रमैक्षत

॥ 51 ॥

अन्वयः—इति द्विजन्मना प्रविश्य अभिहिता सा मनोगतं शंसितुं न शशाक । अथो परिपार्श्ववर्तिनीं वयस्यां विवर्तितानञ्जननेत्रम् ऐक्षत ।

सङ्गीविनी टीकाः—इतीति ॥ इति इत्थं द्विजन्मना द्विजेन प्रविश्य अन्तर्गत्वा । आप्तवद्ब्रह्मस्यमुद्भाव्येत्यर्थः । अभिहिता उक्ता सा पार्वती मनोगतं हृदिस्थं वरं शंसितुं वक्तुं न शशाक समर्था नाभूत् । लज्जयेति शेषः । अथो अनन्तरं परिपार्श्ववर्तिनीं वयस्यां सखीं विवर्तितानञ्जननेत्रं विवर्तितं विचलितमनञ्जनं व्रतवशाद्वर्जितकज्जलं नेत्रं यस्मिन्कर्मणि तत्तथा ऐक्षत । नेत्रसंज्ञयैव प्रत्युत्तरं वाचयांचकारेत्यर्थः ।

शब्दार्थः—इति = इस प्रकार, द्विजन्मना = ब्राह्मण के द्वारा, प्रविश्य = प्रवेश करके, अभिहिता = कही गई, सा = वह (पार्वती), मनोगतम् = मन की बात को, शंसितुम् = सूचित करने के लिए, न शशाक = समर्थ नहीं हुई, अथो = तब, परिपार्श्ववर्तिनीम् = समीप में स्थित, वयस्याम् = सखी को, विवर्तितानञ्जननेत्रम् = मुड़े हुए काजल से रहित नेत्रों से, ऐक्षत = देखा ।

अनुवादः—इस प्रकार ब्राह्मण के द्वारा (उसके हृदय में) प्रवेश करके कही गई वह (पार्वती) मन की बात को कहने में समर्थ न हो सकी । तत्पश्चात् (उसने) समीप में स्थित सखी की ओर काजल-हीन नेत्रों को घुमाकर देखा ।

Eng. Trans.:—She, thus addressed by the Brāhmaṇa, having entered (divined) the inmost secret (of her heart), could not speak out the desire of her mind (through bashfulness). So she only looked at her friend standing by her side, with eyes devoid of collyrium.

व्याख्या:—पार्वती के द्वारा अपनी सखी को ब्रह्मचारी शिव के प्रश्नों का उत्तर देने का संकेत किए जाने का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं कि ब्रह्मचारी ने पार्वती से उसके हृदय में स्थित अभीष्ट वर के विषय में पूछा किन्तु लज्जा के कारण वह स्वयं उसका उत्तर न दे सकी। इसलिए उस पार्वती ने अपने समीप में स्थित अपनी अभिन्न सखी से अपने काजल रहित नेत्रों के संकेत मात्र से उस ब्रह्मचारी के प्रश्न का उत्तर देने के लिए कह दिया। काजल रहित नेत्रों के संकेत से इसलिए क्योंकि पार्वती ने तपस्या प्रारम्भ करते ही काजल लगाना बन्द कर दिया था।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:—

सन्धि:—प्रविश्याभिहिता = प्रविश्य + अभिहिता।

समास:—द्विजन्मना = द्वे जन्मनी यस्य सः इति द्विजन्मा (बहु०) तेन; मनोगतम् = मनः गतम् (द्वि०त०); परिपार्श्ववर्तिनीम् = परिपार्श्वे वर्तते इति परिपार्श्ववर्तिनी (स०त०) तम्; वयस्याम् = वयसा तुल्यम् (तु०त०)ताम्; विवर्तितानञ्जनेत्रम् = अविद्यमानम् अञ्जनं ययोः ते इति अनञ्जने (बहु०), विवर्तिते अनञ्जने नेत्रे यस्मिन् तत् (बहु०)।

पदपरिचय:—प्रविश्य = प्र + √विश् + ल्यप्; अभिहिता = अभि + √धा + क्त + टप् प्र०वि०एक०; शंसितुम् = √शंस + तुमुन्; मनोगतम् = मनो + √गम् + क्त द्वि०वि०एक०; शशाक = √शक् लिट् ल०प्र०पु०एक०; परिपार्श्ववर्तिनीम् = परिपार्श्व + √वृत् + णिनि + ङीप् द्वि०वि०एक०; वयस्याम् = वयस् + यत् + टप् द्वि०वि०एक०; विवर्तित = वि + √वृत् + णिच् + क्त; ऐक्षत = √ईक्ष लङ् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकार:—अनुप्रास

छन्द:—वंशस्थ।



52. प्रसंगः—तव पार्वती की सखी ने ब्रह्मचारी से कहा —

सखी तदीया तमुवाच वर्णिनं,

निबोध साधो तव चेत्कुतूहलम्।

यदर्थमम्भोजमिवोष्णवारणं,

कृतं तपःसाधनमेतया वपुः॥ 52॥

अन्वयः—तदीया सखी तं वर्णिनम् उवाच— हे साधो ! तव कुतूहलं चेत् निबोध। यदर्थम् एतया अम्भोजं उष्णवारणम् इव वपुः तपःसाधनम् कृतम्।

सञ्जीविनी टीकाः—सखीति॥ तस्याः पार्वत्या इयं तदीया सखी वयस्या तम्। 'वर्णं प्रशस्तिः' इति क्षीरस्वामी। सोऽस्यास्तीति वर्णिनं ब्रह्मचारिणं। 'वर्णाद्ब्रह्मचारिणि' इतीतिप्रत्ययः। उवाच ब्रूते स्म। किमिति। हे साधो, विद्वन् तव कुतूहलं चेत्। श्रोतुमस्तीति शेषः। तर्हि निबोध अवगच्छ। आकर्णयेत्यर्थः। 'बुध् अवगमने' इति धातोर्भावादिकाल्लोट्। श्रोतव्यं किं तदाह—यस्मै लाभायेदं यदर्थम्। 'अर्थेन सह नित्यसमासः सर्वलिङ्गता चेति वक्तव्यम्' इति वार्तिकनियमाक्रियाविशेषणम्। एतया पार्वत्या अम्भोजं पद्मम् उष्णवारणम् आतपत्रम् इव वपुः शरीरं तपःसाधनं कृतम्। तपः प्रवृत्तिकारणमुच्यते श्रूयतामित्यर्थः।

शब्दार्थः—तदीया = उस (पार्वती) की, सखी = सखी ने, तम् = उस, वर्णिनम् = ब्रह्मचारी को, उवाच = कहा, साधो = हे महात्मन्!, तव = आपको, कुतूहलम् = उत्सुकता है, चेत् = यदि, निबोध = जानिए, यदर्थम् = जिसके लिए, एतया = इसने, अम्भोजम् = कमल को, उष्णवारणम् = धूप हटाने वाले (छाते) के, इव = समान, वपुः = शरीर को, तपःसाधनम् = तप करने का साधन, कृतम् = बनाया है।

अनुवादः—उस(पार्वती) की सहेली ने उस ब्रह्मचारी से कहा—हे महात्मन्! यदि आपको उत्सुकता है (तो) अच्छी तरह जानिए, जिसके लिए इसने कमल को धूप हटाने वाले (छाते) के समान (अपने) शरीर को तपस्या का साधन बनाया है।

Eng. Trans.:—Her friend said to the ascetic—"O sage, know thou then, if such be thy curiosity, him for whom this lady has made her body a means of practising religious austerities, as one should (make) a lotus (a means) of warding off the sun.

व्याख्या:—पार्वती क. संकेत पाकर उसकी सखी ब्रह्मचारी से कहती है कि हे महात्मन्! यदि यह जानने की आपके हृदय में उत्सुकता है तो मैं कहती हूँ, आप सुनिए कि जिस प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए इस पार्वती ने कमल के समान सुकोमल अपने शरीर को तप का साधन बनाया है। वास्तविकता यह है कि यह अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिए ही इतने कठोर तप को कर रही है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस भाँति कमल को छाता बनाना अनुचित है यदि उससे छाते का कार्य लिया जाए तो वह सूख जाता है। उसी भाँति पार्वती का शरीर भी अत्यन्त कोमल होने के कारण कठोर तपस्या के परिश्रम को सहन करने योग्य नहीं है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:—

सन्धि:—यदर्थमम्भोजमिवोष्णवारणम् = यदर्थम् + अम्भोजम् + इव + उष्णवारणम्।

समास:—तदीया = तस्याः इयम् (ष०त०); वर्णिनम् = प्रशस्तः वर्णः अस्याः अस्ति इति वर्णिनम् (बहु०); यदर्थम् = यस्मै इदम् (च०त०); अम्भोजम् = अम्भसि जायते (स०त०); उष्णवारणम् = उष्णं वार्यते (द्वि०त०); तपःसाधनम् = तपसः साधनम् (ष०त०)।

पदपरिचय:—तदीया = तद् + छ + टाप् प्र०वि०एक०; वर्णिनम् = वर्ण + इनि द्वि०वि०एक०; उवाच = √वच् लिट् ल०प्र०पु०एक०; निबोध = नि + √बुध् लोट् ल०म०पु०एक०; अम्भोजम् = अम्भसि + √जन् + ड द्वि०वि०एक०; उष्णवारणम् = उष्ण + √वृ + णिच् + ल्युट् द्वि०वि०एक०; कृतम् = √कृ + क्त प्र०वि०एक०।

अलंकार:—उपमा

छन्द:—वंशस्थ।



53. प्रसंगः:—सखी कहती है कि पार्वती की इच्छा शिव को ही पति के रूप में प्राप्त करने की है —

इयं महेन्द्रप्रभृतीनधिश्रिय-

श्रतुर्दिगीशानवमत्य मानिनी।

अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहा-

त्पिनाकपाणिं पतिमाप्नुमिच्छति ॥ 53 ॥

अन्वयः—मानिनी इयम् अधिश्रियः महेन्द्रप्रभृतीन् चतुर्दिगीशान् अवमत्य मदनस्य निग्रहात् अरूपहार्यं पिनाकपाणिं पतिम् आप्नुम् इच्छति ।

सञ्जीविनी टीकाः—इयमिति ॥ मानिनी इन्द्राणीप्रभृतिरतिशय्य वर्तितव्यमित्यभिमानवती इयं पार्वती अधिश्रियः अधिकैश्वर्यान् महेन्द्रप्रभृतीन् इन्द्रादींश्चतसृणां दिशामीशान् चतुर्दिगीशान् इन्द्रवरुणयमकुबेरान् । 'तद्धितार्थ'—इत्यादिनोत्तरपदसमासः । अवमत्य अवधूय मदनस्य निग्रहात् निर्वहणाद्धेतोः । अकामुकत्वादित्यर्थः । रूपेण सौन्दर्येण हार्यो वशीकरणीयो न भवतीति अरूपहार्यं पिनाकः पाणौ यस्य तं पिनाकपाणिं हरम् । 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः, इति साधु । पतिं भर्तारम् आप्नुम् इच्छति । एतेन संकल्पावस्था सूचिता ।

शब्दार्थः—मानिनी = स्वाभिमानिनी, इयम् = यह, अधिश्रियः = अत्यधिक ऐश्वर्य वाले, महेन्द्रप्रभृतीन् = इन्द्र आदि, चतुर्दिगीशान् = चार दिशाओं के स्वामियों का, अवमत्य = अपमान करके, मदनस्य = कामदेव के, निग्रहात् = दण्डित (दग्ध) होने के कारण, अरूपहार्यम् = सौन्दर्य से आकृष्ट न होने वाले, पिनाकपाणिम् = शिव को, पतिम् = पति के रूप में, आप्नुम् = प्राप्त करना, इच्छति = चाहती है ।

अनुवादः—स्वाभिमानिनी यह अत्यधिक ऐश्वर्य वाले इन्द्र आदि चारों दिशाओं के स्वामियों का तिरस्कार करके कामदेव के दण्डित होने के कारण सौन्दर्य से आकृष्ट न होने वाले शिव को पति के रूप में प्राप्त करना चाहती है ।

Eng. Trans.:—This lady, disdaining all the lords of the four quarters, the great Indra and others, of exalted dignity, seeks a husband in the holder of the Pināka bow (i.e. Śiva), who is not to be conquered by charms, as is evinced by his destruction of the mind-born (cupid) formerly.

व्याख्याः—पार्वती की सखी ब्रह्मचारी से कहती है कि पार्वती अत्यन्त अभिमानशालिनी है, अतः वह इन्द्राणी आदि को भी सौन्दर्य में नीचा दिखलाने की इच्छा रखती है, इसलिए वह पति के रूप में केवल शिव को प्राप्त करना चाहती है जिससे उसका पति इन्द्र, वरुण, यम और कुबेर इन चारों दिशाओं के स्वामियों की अपेक्षा श्रेष्ठ सिद्ध हो, क्योंकि शिव सौन्दर्य के द्वारा वश में होने

योग्य नहीं हैं जिसने असाधारण सुन्दर कामदेव को भी भस्म कर दिया था। तात्पर्य यह है कि कामदेव ने अपने सौन्दर्य के द्वारा इन्द्र आदि समस्त देवताओं को अपने वश में कर लिया था किन्तु वह शिव को प्रभावित नहीं कर सका था। शिव सर्वश्रेष्ठ थे, इसलिए पार्वती सभी देवताओं का तिरस्कार करके केवल शिव को अपना पति बनाना चाहती थी।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धि:-महेन्द्रप्रभृतीनाधिश्रियश्चतुर्दिगीशानवमत्य = महेन्द्रप्रभृतीन् + अधिश्रियः + चतुर्दिगीशान् + अवमत्य।

समास:-मानिनी = प्रशस्तः मनः अस्याः अस्तीति मानिनी (बहु०); अधिश्रियः = अधिका श्रीः येषां ते (बहु०) तान्; महेन्द्रप्रभृतीन् = महान् चासौ इन्द्रः महेन्द्रः (कर्म०), महेन्द्रः प्रभृतिः येषां ते इति महेन्द्रप्रभृतयः (बहु०) तान्; चतुर्दिगीशान् = दिशाम् ईशाः इति दिगीशाः (ष०त०), चत्वारः दिगीशाः (कर्म०) तान्; अरूपहार्यम् = हर्तुं योग्यः हार्यः, रूपेण हार्यः इति रूपहार्यः (तृ०त०), न रूपहार्यः (नञ् त०) तम्; पिनाकपाणिम् = पिनाकः पाणौ यस्य सः पिनाकपाणिः (बहु०) तम्।

पदपरिचय:-मानिनी = मान + इनि + डीप् प्र०वि०एक०; अवमत्य = अव + √मन् + ल्यप्; निग्रहात् = नि + √ग्रह् + अप् पं०वि०एक०; अरूपहार्यम् = नञ् + रूप + √ह् + ण्यत् द्वि०वि०एक०; आप्तुम् = √आप् + तुमुन्; इच्छति = √इष् लट् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकार:-अनुमान

छन्द:-वंशस्थ।



54. प्रसंगः-कामदेव के भस्म हो जाने के बाद भी काम-बाण से पार्वती का हृदय पीड़ित हो गया -

असह्युङ्कारनिवर्तितः पुरा,

पुरारिमप्राप्तमुखः शिलीमुखः।

इमां हृदि व्यायतपातमक्षिणोद,

विशीर्णमूर्तेरपि पुष्पधन्वनः॥ 54॥

अन्वयः—पुरा असह्यहुंकारनिवर्तितः पुरारिम् अप्राप्तमुखः विशीर्णमूर्तेः अपि पुष्पधन्वनः शिलीमुखः इमां हृदि व्यायतपातम् अक्षिणोत् ।

सञ्जीविनी टीकाः—असह्येति ।। पुरा पूर्वम् असह्यहुंकारनिवर्तितः असह्येन ज़ोदुमशक्येन हुंकारेण रौद्रेण निवर्तितः । अत एव पुरारिं हरम् अप्राप्तमुखः अप्राप्तफलः विशीर्णमूर्तेः नष्टशरीरस्य अपि पुष्पधन्वनः कामस्य शिलीमुखः बाणः इमां पार्वतीं हृदि व्यायतपातम् व्यायतः । सुदूरावगाढ इति यावत् । तादृक्पातः प्रहारो यस्मिन् कर्मणि तत्तथा अक्षिणोत् अकर्शत् । दग्धदेहस्यापि मार्गणो लग्नः । 'मृदुः सर्वत्र बाध्यते' इति भावः । अनेन 'विवृण्वती शैलसुतापि भावम्' (3/68) इत्यत्रोक्तं चक्षुः प्रीतिमनःसङ्गाख्यामवस्थाद्वयमनन्तरावस्थोपयोगितयानूद्य कार्याविस्था सूचिता ।

शब्दार्थः—पुरा = पहले समय में, असह्यहुङ्कारनिवर्तितः = असह्य हुङ्कार से लौट दिया गया, पुरारिम् = शिव को, अप्राप्तमुखः = नहीं प्राप्त कर सके अग्रभाग वाला, विशीर्णमूर्तेः = नष्ट शरीर वाले, अपि = भी, पुष्पधन्वनः = कामदेव का, शिलीमुखः = बाण, इमाम् = इसको, हृदि = हृदय में, व्यायतपातम् = अति तीव्र प्रहार से, अक्षिणोत् = घाव किया ।

अनुवादः—पहले समय में (शिवजी की) असह्य हुङ्कार से लौट दिये गये, शिवजी को न प्राप्त कर सके अग्रभाग वाले, नष्ट शरीर वाले भी, कामदेव के बाण ने इस (पार्वती) के हृदय में अत्यन्त तीव्र प्रहार से घाव किया ।

Eng. Trans.:—The arrow of the Flower-bowed god, whose point failed to reach the enemy of the (three) cities (i.e. Śiva), being hurled back with the Humkāra sound, difficult to be borne, struck her in the heart with a cruel blow, although his body had been destroyed.

व्याख्याः—प्रस्तुत श्लोक में उस घटना की ओर संकेत किया गया है जब कामदेव ने अपने सौन्दर्य से प्रभाव उत्पन्न करके शिवजी की समाधि को भंग करने का प्रयास करते हुए उन पर अपने बाण का प्रयोग किया था किन्तु क्रोध के वशीभूत हुए शिव की असह्य हुङ्कार से वह बाण वापिस आ गया जिसने कामदेव को भी भस्म कर दिया । नष्ट शरीर वाले कामदेव ने शिव से पराजित होकर अपने बाण का प्रहार पार्वती के हृदय पर कर दिया जिसके परिणामस्वरूप पार्वती के हृदय में शिवजी के प्रति महान् स्नेह की उत्पत्ति हो गई ।

शिव का एक नाम त्रिपुरारि भी है क्योंकि शिव ने तीन पुरों को नष्ट कर दिया था, जो क्रमशः सोने, चाँदी और लोहे से निर्मित थे और जिनमें क्रमशः मय, विद्युन्माली और तारकासुर निवास करते थे।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धि:-व्यायतपातमक्षिणोद् = व्यायतपातम् + अक्षिणोत्; विशीर्णमूर्तेरपि = विशीर्णमूर्तेः + अपि।

समास:-असह्यहुङ्कारनिवर्तितः = सोढुं योग्यं सह्यम्, न सह्यम् इति असह्यम् (नञ् त०), असह्यः हुङ्कारः इति असह्यहुङ्कारः (कर्म०) तेन निवर्तितः (तृ०त०); पुरारिम् = पुराणाम् अरिम् (ष०त०); अप्राप्तमुखः = न प्राप्तम् इति अप्राप्तम् (नञ् त०), अप्राप्तं मुखं यस्य सः (बहु०); विशीर्णमूर्तेः = विशीर्णा मूर्तिः यस्य सः (बहु०) तस्य; पुष्पधन्वनः = पुष्पाणि एव धनुः यस्य सः इति पुष्पधन्वाः (बहु०) तस्य; शिलीमुखः = शिली मुखे यस्य सः (बहु०); व्यायतपातम् = व्यायतः पातः यस्य तत् (बहु०)।

पदपरिचय:-असह्य = नञ् + √सह् + यत्; हुङ्कार = हुम् + √कृ + घञ्; निवर्तितः = नि + √वृत् + णिच् + क्त प्र०वि०एक०; विशीर्णा = वि + √शृ + क्त + टप्; व्यायत = वि + आ + √यम् + क्त; पातम् = √पत् + घञ् प्र०वि०एक०; अक्षिणोत् = √क्षि लङ् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकार:-सन्देह

छन्द:-वंशस्थ।



55. प्रसंग:-आगे आने वाले चार श्लोकों में पूर्वानुराग सम्बन्धी पार्वती की चेष्टाओं का वर्णन है। पहले में कामदेव के प्रबल प्रभाव से युक्त वह पार्वती बर्फ की चट्टानों पर भी सुख का अनुभव नहीं करती थी-

तदा प्रभृत्युन्मदना पितुर्गृहे,

ललाटिकाचन्दनधूसरालका।

न जातु बाला लभते स्म निर्वृतिं,

तुषारसंघातशिलातलेष्वपि ॥ 55 ॥

अन्वय:-तदाप्रभृति पितुः गृहे उन्मदना ललाटिकाचन्दनधूसरालका बाला जातु तुषारसंघातशिलातलेषु अपि निर्वृतिं न लभते स्म।

सञ्जीविनी टीकाः—तदेति ॥ तदेति छेदः । तदाप्रभृति । तत आरभ्येत्यर्थः । सप्तम्यर्थस्यापि दाप्रत्ययस्य पञ्चम्यर्थे लक्षणा प्रभृतियोगे पञ्चमीनियमात् । पितुः गृहे उन्मदना उत्कटमन्मथा ललाटिकाचन्दनधूसरालका ललाटस्थालंकारो ललाटिका तिलकः । 'कर्णललाटत्कनलंकारे' इति कन्प्रत्ययः । तस्याश्चन्दनेन धूसरा धूसरवर्णा अलकाश्चूर्णकुन्तला यस्याः सा तथोक्ता । बाला पार्वती जातु कदाचिदपि तुषारसंघातशिलातलेषु तुषारसंघातास्तुषारघनास्त एव शिलास्तासां तलेषूपरिभागेषु अपि निर्वृतिं सुखं न लभते स्म । एतेनारत्यपरसंज्ञा विषयविद्वेषावस्था द्वादशावस्थापक्षे संज्वरश्च व्यज्यते ।

शब्दार्थः—तदाप्रभृति = तब से लेकर, पितुः = पिता के, गृहे = घर में, उन्मदना = प्रबल कामभावना से युक्त, ललाटिकाचन्दनधूसरालका = मस्तक पर लगे चन्दन से मटमैले केशों वाली, बाला = कुमारी (पार्वती), जातु = कभी; तुषारसंघातशिलातलेषु = हिमराशि के शिलाखण्डों (चट्टानों) पर, अपि = भी, निर्वृतिम् = सुख को, न = नहीं, लभते स्म = प्राप्त करती थी ।

अनुवादः—तब से लेकर पिता के घर में प्रबल कामभावना से युक्त हुई मस्तक पर लगे हुए चन्दन से मटमैले केशों वाली (वह) पार्वती हिमराशि के शिलाखण्डों पर भी कभी शान्ति को प्राप्त नहीं करती थी ।

Eng. Trans.—From that time forth, powerfully affected by love, and with her curling tresses whitened by the sandal-paste applied to her forehead, the maiden never felt at ease even when reclining on the surface of snow-slabs while in her father's house.

व्याख्याः—कामदेव के बाणों से पीड़ित हुई पार्वती की अवस्था का वर्णन करती हुई उसकी सखी शिव से कह रही है कि कामदेव के बाण के प्रहार से पार्वती अत्यन्त दुःखी हो गई थी । वह अपने कामजन्य सन्ताप को शान्त करने के लिए हिम-शिलाओं पर शयन करके भी शान्ति को प्राप्त नहीं करती थी । शीतोपचार के लिए उसके मस्तक पर लगाया गया चन्दन तुरन्त शुष्क हो जाता था जिसके परिणामस्वरूप उसके केश भी शुष्क चन्दन से धूसर वर्ण के हो जाते थे । इस प्रकार शीतल उपचार के लिए किए गए सभी उपाय निरर्थक हो जाते थे ।

व्याकरणात्मक टिप्पणीः—

सन्धिः—प्रभृत्युन्मदना = प्रभृति + उन्मदना; पितुर्गृहे = पितुः + गृहे; शिलातलेष्वपि = शिलातलेषु + अपि ।

समासः—उन्मदना = उत्कटः मदनः यस्याः सा(बहु०); ललाटिकाचन्दन-
धूसरालका = ललाटे भवः अलंकारः इति ललाटिका (स०त०), तस्याः चन्दनम्
इति ललाटिकाचन्दनम् (ष०त०), तेन धूसराः (तृ०त०), ललाटिकाचन्दनधूसराः
अलकाः यस्याः सा(बहु०); तुषारसङ्घातशिलातलेषु = शिलायाः तलानि इति
शिलातलानि (ष०त०), तुषाराणां सङ्घाताः इति तुषारसङ्घाताः (ष०त०),
तुषारसङ्घाताः एव शिलातलानि (कर्म०) तेषु।

पदपरिचयः—सङ्घात = सम् + √हन् + घञ्; निर्वृत्तिम् = निर् + √वृत् +
क्तिन् द्वि०वि०एक०; लभते = √लभ् लट् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकारः—विशेषोक्ति

छन्दः—वंशस्थ।



56. प्रसंगः—दूसरे में पार्वती के विलाप का वर्णन प्रस्तुत है—

उपात्तवर्णं चरिते पिनाकिनः,

सवाष्पकण्ठस्खलितैः पदैरियम्।

अनेकशः किन्नरराजकन्यका,

वनान्तसङ्गीतसखीररोदयत्॥ 56 ॥

अन्वयः—इयं पिनाकिनः चरिते उपात्तवर्णं 'सति' सवाष्पकण्ठस्खलितैः पदैः
वनान्तसङ्गीतसखीः किन्नरराजकन्यकाः अनेकशः अरोदयत्।

सङ्गीविनी टीकाः—उपात्तेति॥ इयं पिनाकिनः शंभोः चरिते
त्रिपुरविजयादिचेष्टिते उपात्तवर्णं प्रारब्धगीतक्रमे। 'गीतक्रमे स्तुतौ वेदे वर्णशब्दः
प्रयुज्यते।' इति हलायुधः। सवाष्पकण्ठस्खलितैः सवाष्पे गद्गदे कण्ठे
स्खलितैर्विशीर्णैः पदैः सुप्तिङन्तरूपैः करणैः। वनान्तसंगीतसखीः वनान्ते संगीतेन
निमित्तेन सखीर्वयस्याः किन्नरराजकन्यकाः अनेकशः बहुशः अरोदयत्
अश्रुमोक्षमकारयत्। हरचरितगानजनितमदनवेदनामेनां वीक्ष्य किन्नर्योऽपि रुरुदुरिति
भावः। अत्र वर्णस्खलनलक्षणकार्योक्त्या पुनःपुनस्तत्कारणीभूतमूर्च्छा-
वस्थाप्रादुर्भावो व्यज्यतेऽन्यथा सखीरोदनानुपपत्तेरिति। द्वादशावस्थापक्षे तु
प्रलापावस्था च व्यज्यते। 'प्रलापो गुणकीर्तनम्' इत्यालंकारिकाः।

शब्दार्थः—पिनाकिनः = शिव के, चरिते = चरित्र के, उपात्तवर्णं = गाए

जाने पर, इयम् = यह (पार्वती), सवाष्पकण्ठस्खलितैः = अश्रुसहित कण्ठ से अस्पष्ट (लड़खड़ाते), पदैः = शब्दों से, वनान्तसङ्गीतसखीः = वनप्रदेश में सङ्गीत में साथ देने वाली, किन्नरराजकन्यकाः = किन्नर राजा की कन्याओं को, अनेकशः = अनेक बार, अरोदयत् = रुलाती थी।

अनुवादः—शिव के चरित्र सम्बन्धी गीतों के गाए जाने पर यह (पार्वती) आँसुओं से भरे होने के कारण अस्पष्ट रूप से निकलने वाले पदों के द्वारा वन प्रदेश में होने वाले संगीत में साथ देने वाली किन्नरराज की कन्याओं को अनेक बार रुला देती थी।

Eng. Trans.:—Many a time did she make the daughter's of the Kinnara kings, her companions in the songs sung in the woods, burst into tears, by her words (of grief) scarcely articulate in the throat choking with tears, while the exploits of the Pināka-holder (i.e. Śiva) were being sung.

व्याख्या—देवी पार्वती की अवस्था का वर्णन करते हुए उसकी सखी ब्रह्मचारी वेषधारी शिव को बताती है कि शिव के प्रति आसक्त मन वाली पार्वती एकान्त में बैठकर किन्नरराज की कन्याओं को बुलाकर उनके साथ शिव की वीरता से सम्पन्न उनके चरित्र विषयक गानों को गाती थी। गाते-गाते वह गद्गद कण्ठ हो जाती थी। उसके नेत्र अश्रुधारा से परिपूर्ण हो जाते थे। इस प्रकार गद्गद कण्ठ हो जाने के कारण वह स्वयं गाने में असमर्थ हो जाती थी। उसकी इस करुण दशा को देखकर किन्नरराज की कन्याएँ भी रुदन करती थीं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि—पदैरियम् = पदैः + इयम्; सखीरोदयत् = सखीः + अरोदयत्।

समास—पिनाकिनः = पिनाकः अस्य अस्तीति पिनाकी (बहु०) तस्य; उपात्तवर्णे = उपात्तः वर्णः यस्मिन् सः (बहु०) तस्मिन्; सवाष्पकण्ठस्खलितैः = वाष्पेन सह वर्तमानः सवाष्पः (बहु०), सवाष्पः कण्ठः सवाष्पकण्ठः (कर्म०), तस्मिन् स्खलितानि (स०त०) तैः; वनान्तसङ्गीतसखीः = वनस्य अन्तः वनान्तः (ष०त०), वनान्ते सङ्गीतम् वनान्तसङ्गीतम् (स०त०) वनान्तसङ्गीतेन सख्यः (तृ०त०) ताः; किन्नरराजकन्यकाः = कुत्सिताः नराः इति किन्नराः (प्रादि त०); तेषां राजानः किन्नरराजः (ष०त०), तेषां कन्यकाः (ष०त०); अनेकशः = न एकशः (नञ् त०)।

पदपरिचयः—पिनाकिनः = पिनाक + इनि ष०वि०एक०; चरिते = $\sqrt{\text{चर्}}$ + क्त नपुं० स०वि०एक०; उपात्त = उप + आ + $\sqrt{\text{दा}}$ + क्त; स्थलितैः = $\sqrt{\text{स्थल}}$ + क्त तृ०वि०बहु०; अरोदयत् = $\sqrt{\text{रुद्}}$ + णिच् लङ् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकारः—विषम

छन्दः—वंशस्थ।



57. प्रसंगः—पार्वती को विरह वेदना के कारण नींद नहीं आती थी एवं अर्द्धनिद्रा में भी वे शिव को याद करती रहती थीं—

त्रिभागशेषासु निशासु च क्षणं,

निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत।

क्व नीलकण्ठ व्रजसीत्यलक्ष्यवा—

गसत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना ॥57॥

अन्वयः—त्रिभागशेषासु निशासु क्षणं नेत्रे निमील्य, सहसा 'हे नीलकण्ठ! क्व वज्रसि' इति अलक्ष्यवाक् असत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना च व्यबुध्यत।

सञ्जीविना टीकाः—त्रिभागेति ॥ किं च इति चार्थः। त्रिभागशेषासु शिष्यत इति शेषः। कर्मणि घञ्। त्रिभ्यो भागेभ्यः शेषास्ववशिष्यसु। यद्वा रात्रेस्त्रियामत्वेन प्रसिद्धत्वात् तृतीयो भागस्त्रिभागः। संख्याशब्दस्य वृत्तिविषये पूरणार्थत्वमिष्यते। यथा शतांशः सहस्रांश इति। त्रिभागः शेषो यासां तासु निशासु क्षणं क्षणमात्रं नेत्रे निमील्य मीलयित्वा सहसा सद्यः, हे नीलकण्ठ! क्व व्रजसि कुत्र गच्छसि इति अलक्ष्यवाक्। अलक्ष्या निर्विषया वाग्वचनं यस्याः सा तथोक्ता। तथा असत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना असत्ये मिथ्याभूते कण्ठे अर्पितं बाहुबन्धनं यस्याः सा तथा सती व्यबुध्यते विबुद्धवती। एतेन जागरोन्मादौ सूचितौ।

शब्दार्थः—त्रिभागशेषासु = तीसरे प्रहर में शेष रहने वाली, निशासु = रात्रि में, क्षणम् = क्षण भर के लिए, नेत्रे = आँखों को, निमील्य = बन्द करके, सहसा = अचानक, नीलकण्ठ = हे शिव!, क्व = कहाँ, व्रजसि = जाते हो, इति = इस प्रकार, अलक्ष्यवाक् = असम्बद्ध प्रलाप करती हुई, असत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना = मिथ्या ही गले में अपनी भुजाओं को लपेटती हुई, व्यबुध्यत = जाग जाती थी।

अनुवादः—रात्रि के तीसरे प्रहर के शेष रह जाने पर, क्षण भर के लिए अपने

नेत्रों को बन्द करके (वह) अचानक 'हे नीलकण्ठ (शिव) ! कहाँ जाते हो?' इस प्रकार असम्बद्ध प्रलाप करती हुई काल्पनिक गले में अपनी बाँहों को डालती हुई जाग जाती थी।

Eng. Trans.:—At night, when its third part only remained, she, having closed her eyes for a moment, all of a sudden woke up with incoherent cries of—"O thou of azure neck, where dost thou go?"—having her arms thrown tight round an imaginary neck.

व्याख्या:—शंकर के साथ पार्वती के स्वप्न समागम का वर्णन करते हुए उसकी सखी ब्रह्मचारी से कह रही है कि रात-दिन एकमात्र शिव का ही चिन्तन करती हुई पार्वती शिव को ही सर्वत्र देखती थी। ऐसी स्थिति में आराधक आराध्य को अपने से व्यतिरिक्त नहीं देखता है। इसलिए पार्वती को शिव सर्वत्र दृष्टिगोचर होते थे। जिसके कारण पार्वती को रात्रि में निद्रा भी नहीं आती थी। यदि वह रात्रि के अन्तिम प्रहर में एक क्षण के लिए सो जाती थी तो उस क्षणिक निद्रा में भी शिव को लक्ष्य करके यह कहती थी कि 'हे शिव ! तुम कहाँ जाते हो?' और शिव की अनुपस्थिति में भी उनको अपने समीप मानकर उनके काल्पनिक गले में अपनी बाँहों को डालकर आलिंगन करने की इच्छा करती थी और फिर तुरन्त जाग जाती थी।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:—

सन्धि:—व्रजसीत्यलक्ष्यवागसत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना = व्रजसि + इति + अलक्ष्यवाक् + असत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना।

समास:—त्रिभागशेषासु = शिष्यते इति शेषः, तृतीयः भागः इति त्रिभागः (कर्म०), त्रिभागः शेषः यासां ताः (बहु०) तासु; नीलकण्ठ = नीलः कण्ठः यस्य सः (बहु०) तत्सम्बुद्धौ; अलक्ष्यवाक् = लक्षितुं योग्या लक्ष्या, न लक्ष्या अलक्ष्या (नञ् त०), अलक्ष्या वाक् यस्याः सा (बहु०); असत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना = न सत्यः असत्यः (नञ् त०), असत्यकण्ठे अर्पितम् असत्यकण्ठार्पितम् (स० त०), असत्यकण्ठार्पितं बाहुबन्धनं यस्याः सा (बहु०)।

पदपरिचय:—निमील्य = नि + √मील् + ल्यप्; व्रजसि = √व्रज् लट् ल० म० पु० एक०; व्यबुध्यत = वि + √बुध् लङ् ल० प्र० पु० एक०।

अलंकारः—अनुप्रास

छन्दः—वंशस्थ ।



58. प्रसंगः—शिव के वियोग से सन्तप्त पार्वती शिव का चित्र बनाकर उन्हें उलाहना देती थीं —

यदा बुधैः सर्वगतस्त्वमुच्यसे,

न वेत्सि भावस्थमिमं कथं जनम् ।

इति स्वहस्तोल्लिखितश्च मुग्धया,

रहस्युपालभ्यत चन्द्रशेखरः ॥ 58 ॥

अन्वयः—यदा त्वं बुधैः सर्वगतः उच्यसे, भावस्थम् इमं जनं कथं न वेत्सि? इति मुग्धया स्वहस्तोल्लिखितः चन्द्रशेखरः रहसि उपालभ्यत ।

सञ्जीविनी टीकाः—यदेति ॥ यदा यत इत्यर्थः । 'यदेति हेतौ' इत्युक्त्वा गणव्याख्यानेऽस्योदाहृतत्वात् । त्वं बुधैः मनीषिभिः सर्वगतः सर्वव्यापीति उच्यसे । तत इत्यध्याहारः । भावे रत्याख्ये तिष्ठतीति भावस्थम् त्वय्यनुरागिणमित्यर्थः । इमं जनम् । इममित्यात्मनिर्देशः । कथं न वेत्सि न जानासि । इति मुग्धया मूढया । अकिञ्चित्करश्चित्रगतोपालम्भः इत्यजानात्येत्यर्थः । तथा स्वहस्तोल्लिखितः स्वहस्तेनोल्लिखितश्चित्रे लिखितः चन्द्रशेखरः रहसि एकान्ते । सखीमात्र-समक्षमित्यर्थः । उपालभ्यत साधिक्षेपमुक्तः च । उक्तसमुच्चयार्थश्चकारः । यद्यपि रहसीत्युक्तं तथापि सखीसमक्षकरणाल्लज्जात्यागो व्यज्यत एव ॥ 58 ॥

शब्दार्थः—यदा = जब, त्वम् = तुम, बुधैः = विद्वानों के द्वारा, सर्वगतः = सर्वव्यापी, उच्यसे = कहे जाते हो, भावस्थम् = अनुराग भाव में स्थित, इमम् = इस, जनम् = व्यक्ति को, कथम् = कैसे, न = नहीं, वेत्सि = जानते हो, इति = इस प्रकार, मुग्धया = भोली-भाली (पार्वती), स्वहस्तोल्लिखितः = अपने हाथ से चित्रित, चन्द्रशेखरः = शिव को, रहसि = एकान्त में, उपालभ्यत = उलाहना देती थी ।

अनुवादः—जब तुम विद्वानों के द्वारा सर्वव्यापी कहे जाते हो (तो) अनुराग भाव में स्थित इस व्यक्ति (मुझ) को कैसे नहीं जानते? इस प्रकार भोली-भाली (पार्वती) के द्वारा अपने हाथ से चित्रित शिव को एकान्त में उलाहना दिया जाता था ।

Eng. Trans.:- And He (Śiva) of the crescent-crest, drawn (i.e. painted) with her own hands by this silly girl, was upbraided in private with the words: "Thou hast been considered all-pervading by the wise; how, then, dost thou not know this person, (as being a) slave to thy love?"

व्याख्या:- अपने हाथों से शंकर का चित्र बनाकर उसे उलाहना देती हुई वियोग - पीड़ित पार्वती का वर्णन करते हुए उसकी सखी कहती है कि जब ज्ञानी लोग तुमको सर्वत्र और सर्वव्यापी कहते हैं तो तुम अपने प्रति अनन्य प्रेम रखने वाली इस पार्वती को क्यों नहीं जान पाते हो? पार्वती वस्तुतः सीधी-साधी थी इसलिए वह चित्र को ही वास्तविक शिव समझकर उसे बार-बार उलाहना दे रही थी और वह यह समझती थी कि शिव उसकी उलाहना को सुन रहे हैं।

विरहिणी स्त्रियाँ वियोगावस्था में चार रूपों में अपना मन बहलाने का कार्य करती हैं - (1) स्वप्न दर्शन (2) सादृश्य दर्शन (3) उसके अर्थात् प्रिय के अंगों का स्पर्श प्राप्त करना (4) प्रियतम के चित्र को बनाना। प्रस्तुत श्लोक में विरहिणी पार्वती के द्वारा चतुर्थ रूप का प्रयोग किया गया है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धि:- सर्वगतस्त्वमुच्यसे = सर्वगतः + त्वम् + उच्यसे; स्वहस्तोल्लिखितश्च = स्वहस्तोल्लिखितः + च; रहस्युपालभ्यत = रहसि + उपालभ्यत।

समास:- सर्वगतः = सर्व गतः (द्वि०त०); भावस्थम् = भावे तिष्ठति इति भावस्थः (उपपद त०) तम्; स्वहस्तोल्लिखितः = स्वश्चासौ हस्तः स्वहस्तः (कर्म०), तेन उल्लिखितः (तृ०त०); चन्द्रशेखरः = चन्द्रः शेखरः यस्य सः (बहु०)।

पदपरिचय:- बुधैः = √बुध् + क तृ०वि०एक०; उच्यसे = √वच् कर्म० लट् ल०म०पु०एक०; भावस्थम् = भाव + √स्था + क द्वि०वि०एक०; वेत्सि = √विद् लट् ल०म०पु०एक०; उल्लिखितः = उत् + √लिख् + क्त प्र०वि०एक०; उपालभ्यत = उप + आ + √लभ् कर्म० लङ् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकार:- स्वभावोक्ति

छन्द:- वंशस्थ।



59. प्रसंगः—अपने काम-विचार के प्रतीकार में स्वयं को असमर्थ पाकर पार्वती ने तपस्या करने का निश्चय किया —

यदा च तस्याधिगमे जगत्पते-

रपश्यदन्यं न विधिं विचिन्वती ।

तदा सहास्माभिरनुज्ञया गुरो-

रियं प्रपन्ना तपसे तपोवनम् ॥59॥

अन्वयः—जगत्पतेः तस्य अधिगमे विचिन्वती अन्यं विधिं यदा न अपश्यत् तदा इयं गुरोः अनुज्ञया अस्माभिः सह तपसे तपोवनं प्रपन्ना ।

सञ्जीविनी टीकाः—यदेति ॥ जगत्पतेः तस्य ईश्वरस्य अधिगमे प्राप्तौ अन्यं विधिं उपायं विचिन्वती मृगयमाणा यदा न अपश्यत् तदा इयं पार्वती गुरोः पितुः अनुज्ञया अस्माभिः सह तपसे तपश्चरितुं तपोवनं प्रपन्ना प्राप्ता च ।

शब्दार्थः—जगत्पतेः = जगत् के स्वामी, तस्य = उस (शिव) की, अधिगमे = प्राप्ति के लिए, विचिन्वती = खोज करती हुई, अन्यम् = दूसरे, विधिम् = उपाय को, यदा = जब, न = नहीं, अपश्यत् = देखा, तदा = तब, इयम् = यह, गुरोः = पिता की, अनुज्ञया = अनुमति से, अस्माभिः = हमारे, सह = साथ, तपसे = तपस्या करने के लिए, तपोवनम् = तपोवन को, प्रपन्ना = आ गई ।

अनुवादः—जगत् के स्वामी उस (शिव) की प्राप्ति के लिए खोज करती हुई (उस पार्वती ने) जब कोई दूसरा उपाय नहीं देखा, तब यह पिता की अनुमति से हमारे साथ तपस्या करने के लिए तपोवन में आ गई ।

Eng. Trans.:—At last, when she could find no other way to win the Lord of the universe (Śiva), though she searched (long and well), she, with the permission of her father, came with us to this sacred forest for practising austerities.

व्याख्याः—पार्वती के तपोवन में आने का कारण बताते हुई पार्वती की सखी शिव से कह रही हैं कि पार्वती ने जगत्पति शिव को पति के रूप में प्राप्त करने के लिए अनेक प्रयत्न किए, किन्तु उसे लेशमात्र भी सफलता प्राप्त न हो सकी । तब उसने यह सोचकर कि उसकी प्राप्ति का एकमात्र साधन तप ही है, पिता की अनुमति लेकर अपनी सखियों के साथ इस तपोवन में तप करने के लिए आ गई ।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धिः-तस्याधिगमे = तस्य + अधिगमे; जगत्पतेरपश्यदन्यम् = जगत्पतेः + अपश्यत् + अन्यम्; सहास्माभिरनुज्ञया = सह + अस्माभिः + अनुज्ञया; गुरोरियम् = गुरोः + इयम्।

समासः-जगत्पतेः = जगताम् पतिः जगत्पतिः (ष०त०) तस्य; तपोवनम् = तपसः वनम् (ष०त०)।

पदपरिचयः-अधिगमे = अधि + √गम् + अप् चतु०वि०एक०; विचिन्वती = वि + √चि + शतृ + डीप् प्र०वि०एक०; अपश्यत् = √दृश् लङ् ल०प्र०पु०एक०; गुरोः = गुरु शब्द ष०वि०एक०; अनुज्ञया = अनु + √ज्ञा + अङ् तु०वि०एक०; तपसे = तपस् शब्द च०वि०एक०; प्रपन्ना = प्र + √पद् + क्त + टाप् प्र०वि०एक०।

अलंकारः-काव्यलिङ्ग

छन्दः-वंशस्थ।



60. प्रसंगः-तपस्या की निष्फलता का वर्णन करते हुए पार्वती की सखी कहती है -

दुमेषु सख्या कृतजन्मसु स्वयं,

फलं तपःसाक्षिषु दृष्टमेष्वपि।

न च प्ररोहाभिमुखोऽपि दृश्यते,

मनोरथोऽस्याः शशिमौलिसंश्रयः॥ 60॥

अन्वयः-सख्या स्वयं कृतजन्मसु तपःसाक्षिषु एषु दुमेषु फलम् अपि दृष्टम्, अस्याः शशिमौलिसंश्रयः मनोरथः च प्ररोहाभिमुखोऽपि न दृश्यते।

सञ्जीविनी टीकाः-दुमेष्विति। सख्या पार्वत्या स्वयं कृतजन्मसु कृतं जन्म येषां तेषु। स्वयं रोपितेष्वित्यर्थः। तपःसाक्षिषु तपसः साक्षिषु साक्षाद्द्रष्टृषु एषु दुमेषु अपि फलं दृष्टं लब्धम्। जनितमित्यर्थः। अस्याः पार्वत्याः च शशिमौलिसंश्रयः चन्द्रशेखरविषयः मनोरथः तु प्ररोहाभिमुखः अंकुरोन्मुखः अपि न दृश्यते। 'प्ररोहस्त्वंकुरः' इति वैजयन्ती। स्वयं रोपितवृक्षफलकालेऽप्यस्याः मनोरथस्य नांकुरोदयोऽप्यस्ति। फलाशा तु दूरापास्तेत्यर्थः।

शब्दार्थः-सख्या = सखी द्वारा, स्वयं = अपने आप, कृतजन्मसु = लगाए

गये, तपःसाक्षिषु = तप के साक्षी बने हुए, एषु = इन, द्रुमेषु = वृक्षों में, फलम् = फल, अपि = भी, दृष्टम् = देख लिए गए, अस्याः = इसका, शशिमौलिसंश्रयः = शिव-सम्बन्धी, मनोरथः = मनोरथ, प्ररोहाभिमुखः = अंकुरित होने की ओर उन्मुख, न = नहीं, दृश्यते = दिखाई देता।

अनुवादः—सखी के द्वारा अपने लगाए गए तपस्या के साक्षी बने हुए इन वृक्षों पर भी फल दृष्टिगोचर हो रहे हैं (परन्तु) इसका शिव-सम्बन्धी मनोरथ अंकुरित होने की ओर उन्मुख (भी) दिखाई नहीं देता।

Eng. Trans.—This our friend has seen fruit appearing on these trees which have been planted (*lit.* given birth to) by herself and which have been the witnesses of her austerities : and yet the craving of her heart, which has for its basis the moon-crested God, does not seem even to be near sprouting-time (*i.e.* about to bear fruit).

व्याख्याः—देवी पार्वती के मनोरथ को सर्वथा अपूर्ण बताते हुए उसकी सखी ब्रह्मचारी से कह रही है कि हमारी प्रिय सखी पार्वती को तपस्या करते हुए दिन बीत गए। यहाँ तक कि उन्होंने अपने हाथों से जिन वृक्षों का रोपण तथा सिञ्चन आदि कर बढ़ा किया था उनमें फलों की उत्पत्ति तक हो गई क्योंकि पार्वती ने तपोवन में आकर प्रारम्भ में ही कुछ वृक्षों को लगाया था। ये पार्वती की तपस्या के निरन्तर द्रष्टा भी थे। इसी कारण इनको साक्षी कहा गया है। इन वृक्षों पर भी फल लगे हुए दिखाई दे रहे हैं परन्तु इतने समय से निरन्तर तपस्या करने पर भी इसके शिव की प्राप्ति रूपी लक्ष्य की सिद्धि अभी तक किसी अंश में भी नहीं हो सकी।

व्याकरणात्मक टिप्पणीः—

सन्धिः—दृष्टमेवपि = दृष्टम् + एषु + अपि; प्ररोहाभिमुखोऽपि = प्ररोहाभिमुखः + अपि; मनोरथोऽस्याः + मनोरथः + अस्याः।

समासः—कृतजन्मसु = कृतं जन्म येषां ते (बहु०) तेषु; तपःसाक्षिषु = तपसः साक्षिणः (ष०त०) तेषु; शशिमौलिसंश्रयः = शशः अस्ति अस्य इति शशी, शशी मौलौ यस्य सः शशिमौलिः (बहु०), शशिमौलिः संश्रयः यस्य सः (बहु०); मनोरथः = मनसः रथः (ष०त०); प्ररोहाभिमुखः = मुखम् अभितः अभिमुखः (प्रादि त०), प्ररोहे अभिमुखः (स०त०)।

पदपरिचयः—दृष्टम् = $\sqrt{\text{दृश्}} + \text{क्त प्र०वि०एक०}$; संश्रयः = सम् + $\sqrt{\text{श्रि}} + \text{अच् प्र०वि०एक०}$; प्ररोहः = प्र + $\sqrt{\text{रुह}} + \text{घञ्}$; दृश्यते = $\sqrt{\text{दृश्}} + \text{कर्म० लट् ल०प्र०पु०एक०}$ ।

अलंकारः—व्यतिरेक

छन्दः—वंशस्थ।



61. प्रसंगः—न जाने उस शिव की कृपा हमारी इस सखी पार्वती की ओर कब होगी—

न वेद्मि स प्रार्थितदुर्लभः कदा,

सखीभिरस्त्रोत्तरमीक्षितामिमाम्।

तपः कृशामभ्युपपत्स्यते सखीं,

वृषेव सीतां तदवग्रहक्षताम्॥61॥

अन्वयः—प्रार्थितदुर्लभः सः तपः कृशां सखीभिः अस्त्रोत्तरम् ईक्षिताम् इमां सखीं वृषा तदवग्रहक्षतां सीताम् इव कदा अभ्युपपत्स्यते इति न वेद्मि।

सङ्गीविनी टीकाः—नेति। प्रार्थितः सन् दुर्लभः प्रार्थितदुर्लभः स देवः तपः—कृशां तपसा कृशां क्षीणमत एव सखीभिः अस्त्रोत्तरम् अश्रुप्रधानं यथा भवति तथा ईक्षिताम् इमां नः सखीं तदवग्रहक्षतां तस्येन्द्रस्यावग्रहेणानावृष्ट्या क्षतां पीडिताम्। 'वृष्टिर्वर्षं तद्विधातेऽवग्राहावग्रहौ समौ।' इत्यमरः। अवे ग्रहो वर्षप्रतिबन्धे' इत्यप्प्रत्ययः। 'सीतां कृष्टभुवम्। सीता लाङ्गलपद्धतिः' इत्यमरः। वृषा वासवः इव। 'वासवो वृत्रहा वृषा' इत्यमरः। कदा अभ्युपपत्स्यते कदा अनुग्रहीष्यति न वेद्मि। अत्र वाक्यार्थः कर्म। तदवग्रहक्षतामित्यत्रावग्रहक्षतामित्यनेनैव गतार्थत्वे तत्पदस्य वैयर्थ्यापत्तेस्तदिति भिन्नं पदं वेद्मीत्यस्य कर्मेति युक्तमुत्पश्यामः।

शब्दार्थः—प्रार्थितदुर्लभः = अभीष्ट होने पर भी दुर्लभ, सः = वह, तपः कृशाम् = तपस्या के कारण दुबली बनी हुई, सखिभिः = सखियों के द्वारा, अस्त्रोत्तरम् = अश्रुधारा के साथ, ईक्षिताम् = देखी गई, इमाम् = इस, सखीम् = सखी को, वृषा = इन्द्र, तदवग्रहक्षताम् = उस (इन्द्र) के द्वारा वर्षा के रोके जाने से पीड़ित, सीताम् = जोती गई भूमि के, इव = समान, कदा = कब, अभ्युपपत्स्यते = अनुगृहीत करेगा, न = नहीं, वेद्मि = जानती।

अनुवादः—अभीष्ट होने पर भी दुर्लभ वह (शिव) तपस्या के कारण दुर्बल

बनी हुई, सखियों के द्वारा आसुँओं के साथ देखी गई (हमारी) इस सखी को, उस (इन्द्र) की अनावृष्टि से पीड़ित और जोती हुई भूमि को इन्द्र के समान कब अनुगृहीत करेगा -(यह मैं) नहीं जानती।

Eng. Trans.:- I do not know when he, difficult to be secured though sought after, will favour this our friend, worn by penance and looked at by us, her friends, with tears, as Indra favours (with showers) the earth, distressed by his holding off (the rain)."

व्याख्या:-विरह वेदना से निरन्तर क्षीण होती जा रही देवी पार्वती की अवस्था के सम्बन्ध में चिन्ता व्यक्त करती हुई उसकी सखी ब्रह्मचारी वेषधारी शिव से कह रही है कि जैसे वर्षा न होने से पीड़ित जोती गई भूमि पर इन्द्र की कृपादृष्टि कब होगी -यह कोई नहीं जानता, वैसे ही तपस्या के कारण अत्यन्त कृश शरीर वाली, सखियों द्वारा अश्रुपूर्ण नेत्रों से देखी गई इस पार्वती पर उसके मनोवांछित एवं दुष्प्राप्य शिव की कृपादृष्टि कब होगी -यह मैं नहीं जानती हूँ। भाव यह है कि जिस प्रकार वर्षा न होने के कारण पीड़ित एवं जोती गई भूमि इन्द्र की दया का पात्र होती है उसी प्रकार तपस्या से कृश शरीर वाली पार्वती भी शिव की दया का पात्र थी।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धि:-सखीभिरस्रोत्तरमीक्षितामिमाम् = सखीभिः + अस्रोत्तरम् + ईक्षिताम् + इमाम्; वृषेव = वृषा + इव।

समास:-प्रार्थितदुर्लभः = प्रार्थितश्चासौ दुर्लभः (कर्म०); तपः कृशाम् = तपसः कृशा (ष०त०) ताम्; अस्रोत्तरम् = अस्रम् उत्तरं यस्मिन् तत् (बहु०); तदवग्रहक्षताम् = तस्य अवग्रहः इति तदवग्रहः (ष०त०) तेन क्षताम् (तृ०त०)।

पदपरिचय:-प्रार्थित = प्र + √अर्थ + क्त, दुर्लभः = दुर् + √लभ् + खल् प्र०वि०एक०; ईक्षिताम् = √ईक्ष् + क्त + टाप् द्वि०वि०एक०; अवग्रह = अव + √ग्रह् + अप्; क्षताम् = √क्षण् + क्त + टाप् द्वि०वि०एक०; अभ्युपपत्त्यते = अभि + उप + √पद् लृट् ल०प्र०पु०एक०; वेद्मि = √विद् लट् ल०उ०पु०एक०।

अलंकार:-उपमा

छन्द:-वंशस्थ।



62. प्रसंगः—पार्वती की सखी से सम्पूर्ण समाचार को प्राप्त करने के बाद वह ब्रह्मचारी अब पार्वती से ही उसकी सखी द्वारा कही गई बातों की सत्यता को जानने की इच्छा से कहता है -

अगूढसद्भावमितीङ्गितज्ञया,

निवेदितो नैष्ठिकसुन्दरस्तया ।

अयीदमेवं परिहास इत्युमा-

मपृच्छदव्यञ्जितहर्षलक्षणः ॥ 62 ॥

अन्वयः—इङ्गितज्ञया तया इति अगूढसद्भावं निवेदितः नैष्ठिकसुन्दरः अव्यञ्जितहर्षलक्षणः सन् अयि! इदम् एवम् परिहासः इति उमाम् अपृच्छत् ।

सञ्जीविनी टीकाः—अगूढेति ॥ इङ्गितज्ञया पार्वतीहृदयाभिज्ञया । ‘इङ्गितं हृदगतो भावः’ इति सज्जनः । तया गौरीसख्या इति एवम् अगूढसद्भावं प्रकाशितसदभिप्रायं यथा तथा निवेदितः ज्ञापितः नैष्ठिकसुन्दरः निष्ठा मरणमवधिर्यस्य स नैष्ठिको यावज्जीवब्रह्मचारी । सुन्दरो विलासी । नैष्ठिकश्चासौ सुन्दरश्चेति तथोक्तः । द्वयोरन्यतरस्य विशेषणत्वविवक्षायां विशेषणसमासः । किं तु नैष्ठिकत्वविशेषणेन कामित्वविरोधः । अथवा देवस्यालौकिकमहिमत्वाद्भयं तात्त्विकमिति न विरोधः । अव्यञ्जितहर्षलक्षणः अव्यञ्जितं हर्षलक्षणं मुखरागादिहर्षलिङ्गं यस्य तथाभूतः सन् । अयि गौरि । अयीति कोमलामन्त्रणे । इदं त्वत्सखीभाषितम् एवम् । सत्यं किमित्यर्थः । परिहासः केलिर्वा । ‘द्रवकेलिपरीहासाः’ इत्यमरः । इति एवम् उमाम् अपृच्छत् पृष्टवान् ।

शब्दार्थः—इङ्गितज्ञया = हृदय के अभिप्राय को जानने वाली, तया = उसके द्वारा, अगूढसद्भावम् = सुन्दर अभिप्राय को बिना छिपाए, निवेदितः = कहे गए, नैष्ठिकसुन्दरः = सुन्दर आजन्म ब्रह्मचारी ने, अव्यञ्जितहर्षलक्षणः = प्रसन्नता के चिह्न को प्रकट न करते हुए, अयि = अरि!, इदम् = यह, एवम् = ऐसा है, परिहासः = अथवा हँसी है, इति = इस प्रकार; उमाम् = उमा से, अपृच्छत् = पूछा ।

अनुवादः—(पार्वती के) हृदयगत भाव को जानने वाली उस(सखी) के द्वारा इस प्रकार सुन्दर अभिप्राय को बिना छिपाए कहे गए सुन्दर आजन्म (नैष्ठिक) ब्रह्मचारी ने हर्ष के चिह्न को प्रकट न करते हुए पार्वती से पूछा—अरी! यह बात ऐसी ही है या हँसी है ।

Eng. Trans.:—Thus informed by her, who knew the secrets

of Pārvati's heart, so as to make her noble intention clear, that handsome Brahmachārin, without showing signs of delight, asked Umā whether it was so, or (merely) a joke.

व्याख्या:—कवि कह रहे हैं कि इस प्रकार पार्वती के मन की बात को जानने वाली सखी ने पार्वती द्वारा की जाने वाली तपस्या का शिव को अपने पति के रूप में प्राप्त करने की इच्छा रूपी सही-सही कारण ब्रह्मचारी को बतला दिया। पार्वती के इस अनन्य प्रेम को देखकर शिव मन ही मन अत्यन्त प्रसन्न हुए किन्तु उन्होंने अपनी इस प्रसन्नता का कोई भी चिह्न प्रकट नहीं होने दिया और पार्वती से पूछा कि आपके विषय में यह जो कुछ भी कह रही है क्या वह सत्य है? अथवा केवल उपहास मात्र ही है?

व्याकरणात्मक टिप्पणी:—

सन्धि:—अगूढसद्भावमितीङ्गितज्ञया = अगूढसद्भावम् + इति + इङ्गितज्ञया; नैष्ठिकसुन्दरस्तया = नैष्ठिकसुन्दरः + तया; अयीदमेवं = अयि + इदम् + एवम्; परिहास इत्युमामपृच्छदव्यञ्जितहर्षलक्षणः = परिहासः + इति + उमाम् + अपृच्छत् + अव्यञ्जितहर्षलक्षणः।

समास:—इङ्गितज्ञया = इङ्गितं जानातीति इङ्गितज्ञा (उपपद त०) तया; अगूढसद्भावम् = न गूढः इति अगूढः (नञ् त०), सः चासौ भावः इति सद्भावः (कर्म०), अगूढः सद्भावः यस्मिन् तत् (बहु०); नैष्ठिकसुन्दरः = नैष्ठिकश्च असौ सुन्दरः (कर्म०); अव्यञ्जितहर्षलक्षणः = हर्षस्य लक्षणं हर्षलक्षणम् (ष०त०), न व्यञ्जितम् अव्यञ्जितम् (नञ् त०), अव्यञ्जितं हर्षलक्षणं यस्य सः (बहु०)।

पदपरिचय:—इङ्गितज्ञया = इङ्गित + √ज्ञा + क + टप् तृ०वि०एक०; अगूढ = नञ् + √गूह् + क्त; सद्भावः = √अस् + शतृ + √भू + घञ् प्र०वि०एक०; निवेदितः = नि + √विद् + णिच् + क्त प्र०वि०एक०; नैष्ठिक = निष्ठा + ठञ्; परिहासः = परि + √हस् + घञ् प्र०वि०एक०; अपृच्छत् = √पृच्छ् लङ् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकार:—परिकर

छन्दः—वंशस्थ।



63. प्रसंगः—इसके बाद ब्रह्मचारी द्वारा कथित परिहास की शंका का निवारण करने के लिए पार्वती ने व्यवस्थित एवं स्वल्प वाणी में कहा —

अथाग्रहस्ते मुकुलीकृताङ्गुलौ,
समर्पयन्ती स्फटिकाक्षमालिकाम्।
कथंचिदद्रेस्तनया मिताक्षरं,
चिरव्यवस्थापितवागभाषत ॥ 63 ॥

अन्वयः—अथ अद्रेः तनया मुकुलीकृताङ्गुलौ अग्रहस्ते स्फटिकाक्षमालिकां समर्पयन्ती चिरव्यवस्थापितवाक् कथञ्चित् मिताक्षरम् अभाषत।

सञ्जीविनी टीकाः—अथेति॥ अथ अनन्तरम् अद्रेः तनया पार्वती मुकुलीकृताङ्गुलौ संपुटीकृताङ्गुलौ। अग्रश्चासौ हस्तश्चेति समाधानाधिकरणसमासः। 'हस्ताग्राग्रहस्तयोर्गुणगुणिनोर्भेदाभेदात्' इति वामनः। तस्मिन् अग्रहस्ते स्फटिकाक्षमालिकाम् स्फटिकानामक्षमालिकां जपमालिकाम् समर्पयन्ती आमुञ्चती कथंचित् महता कष्टेन चिरव्यवस्थापितवाक् चिरेण स्वीकृतवाक्। एतेन लज्जोपरोधो व्यज्यते। मिताक्षरं परिमितवर्णं यथा तथा अभाषत बभाषे।

शब्दार्थः—अथ = इसके बाद, अद्रेः = पर्वत की, तनया = पुत्री ने, मुकुलाकृताङ्गुलौ = कलियों के समान जुड़ी हुई अङ्गुलियों वाले, अग्रहस्ते = हाथ के अगले भाग में, स्फटिकाक्षमालिकाम् = स्फटिक मणिनिर्मित अक्षमाला को, समर्पयन्ती = धारण करके, चिरव्यवस्थापितवाक् = बात को बहुत देर तक सोच-विचार कर, कथञ्चित् = किसी प्रकार, मिताक्षरम् = थोड़े से शब्दों में, अभाषत = कहा।

अनुवादः—इसके बाद पर्वत की पुत्री (पार्वती) ने कलियों के समान जुड़ी हुई अङ्गुलियों वाले हाथ के अग्रभाग में स्फटिक मणि निर्मित अक्षमाला को धारण करके देर तक वाणी को व्यवस्थित करके किसी प्रकार (बड़ी कठिनता से) नपे तुले (परिमित) शब्दों में कहा।

Eng. Trans.:—Then the daughter of the mountain, putting the rosary of crystal beads on (or, into) her forehead, with the fingers drawn together so as to resemble a bud, spoke, with great difficulty, in measured words, having (first) adjusted her speech (in her mind) for a long time.

व्याख्या:—पार्वती ने शिव की बात का किस प्रकार उत्तर दिया—इस बात को कवि इस प्रकार कह रहे हैं कि ब्रह्मचारी के प्रश्न को सुनकर पार्वती ने स्फटिकमणि से बनी हुई जपमाला को कलियों के समान जुड़ी हुई अंगुलियों से युक्त अपने हाथ के अग्रभाग में धारण कर लिया अर्थात् उसने जपमाला के चलाने का कार्य कुछ समय के लिए बन्द कर दिया। तदनन्तर अपने विषय की विवेचना करते हुए बड़े नपे तुले शब्दों में उसने कुछ कहना प्रारम्भ किया।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:—

सन्धि:—अथाग्रहस्ते = अथ + अग्रहस्ते; कथञ्चिद्रेस्तनया = कथञ्चित् + अद्रेः + तनया।

समास:—मुकुलीकृताङ्गुलौ = न मुकुलाः अमुकुलाः (नञ् त०), अमुकुलाः मुकुलाः कृता इति मुकुलीकृताः, मुकुलीकृताः अङ्गुलयः यस्य सः (बहु०) तस्मिन्; अग्रहस्ते = अग्रश्चासौ हस्तश्च इति अग्रहस्तः (कर्म०) तस्मिन्; स्फटिकाक्षमालाम् = स्फटिकानाम् अक्षमालिका (ष० त०) ताम्; चिरव्यवस्थापितवाक् = चिरं यथा स्यात् तथा व्यवस्थिता वाक् यया सा (बहु०); मिताक्षरम् = मितानि अक्षराणि यस्मिन् तत् (बहु०)।

पदपरिचय:—मुकुलीकृत = मुकुल + च्वि + √कृ + क्त; समर्पयन्ती = सम् + √अर्प + णिच् + शतृ + डीप् प्र० वि० एक०; व्यवस्थापित = वि + अव + √स्था + णिच् + क्त; अभाषत = √भाष् लङ् ल० प्र० पु० एक०।

अलंकार:—स्वभावोक्ति

छन्द:—वंशस्थ।



64. प्रसंग:—पार्वती ब्रह्मचारी वेषधारी शिव से कह रही है कि -

यथाश्रुतं वेदविदां वर त्वया,

जनोऽयमुच्चैःपदलङ्घनोत्सुकः।

तपः किलेदं तदवाप्तिसाधनं,

मनोरथानामगतिर्न विद्यते॥ 64॥

अन्वय:—हे वेदविदां वर! त्वया यथा श्रुतं तथा अयं जनः उच्चैःपदलङ्घनोत्सुकः अस्ति, इदं तपः तदवाप्तिसाधनं किल, मनोरथानाम् अगतिः न विद्यते।

सञ्जीविनी टीकाः—यथेति ।। हे वेदविदां वर वैदिकश्रेष्ठ! त्वया यथा श्रुतं सम्यक्श्रुतम् । श्रुतार्थमेवाह—अयं जनः । स्वयमित्यर्थः । उच्चैःपदलङ्घनोत्सुकः उच्चैःपदस्य शिवलाभरूपोन्नतस्थानस्य लङ्घने आक्रमणे उत्सुकः । किमत्रायुक्तमित्यत्राह—इदं तपः तदवाप्तिसाधनं तदवाप्तेः तस्योच्चैःपदस्यावाप्तेः प्राप्तेः साधनं किल । किलेत्यलीके । अतितुच्छत्वादसाधकमेवेत्यर्थः । तर्हि त्यज्यतामित्याशङ्क्य दुराशा मां न मुञ्चतीत्याशयेनाह—मनोरथानां कामानाम् अगतिः अविषयः न विद्यते । न हि स्वशक्तिपर्यालोचनया कामाः प्रवर्तन्तः इति भावः ।

शब्दार्थः—वेदविदाम् = वेद के ज्ञाताओं में, वर = श्रेष्ठ!, त्वया = तुमने, यथा = जैसा, श्रुतम् = सुना है, अयम् = यह, जनः = व्यक्ति, उच्चैःपदलङ्घनोत्सुकः = ऊँचे पद की प्राप्ति के लिए उत्सुक है, इदम् = यह, तपः = तप, तदवाप्तिसाधनम् = उसकी प्राप्ति का उपाय है, किल = निश्चय ही, मनोरथानाम् = इच्छाओं की अगतिः = विफलता (रुकावट), न = नहीं, विद्यते = होती है ।

अनुवादः—हे वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ! तुमने जैसा सुना है (वह सत्य ही है), यह व्यक्ति (मैं) उच्च पदवी की प्राप्ति के लिए उत्कण्ठित है । निश्चय ही यह तपस्या उसकी प्राप्ति का साधन है, (क्योंकि) मनोरथों की रुकावट नहीं होती है ।

Eng. Trans.:—"O thou, who art chief among those who know the Vedas, thou hast heard the truth (*lit.* as it is); this (humble) person is ambitious of attaining the highest post. These austerities are a means of getting that; nothing is inaccessible to desire (fancy)."

व्याख्याः—पार्वती शिव से कह रही हैं कि हे वैदिकश्रेष्ठ! आपने मेरी सखी के मुख से सत्य ही सुना है कि मैं उच्च पद को प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय कर चुकी हूँ और मेरे लिए शिव को पति के रूप में प्राप्त करना ही उच्च पद की प्राप्ति करना है । इसी इच्छा की पूर्ति के लिए मैं यह तप कर रही हूँ । इसमें सन्देह नहीं है कि यह तप ही उसकी प्राप्ति का एकमात्र साधन है । मेरी यह इच्छा अवश्य ही पूर्ण होगी क्योंकि संसार में कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छाओं को रोक नहीं सकता । इच्छाएँ निश्चित रूप से अपने अभीष्ट को प्राप्त कर ही लेती हैं । जो मनुष्य जिस किसी भी उत्कृष्ट इच्छा को लेकर उसकी पूर्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है, वह अवश्य ही अपनी इच्छा की पूर्ति में सफलता को प्राप्त कर लेता है । किसी ने सत्य ही कहा है —

‘मन के हारे हार है, मन के जीते जीत’

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धि:-जनोऽयम् = जनः + अयम्; किलेदं = किल + इदम्;
मनोरथानामगतिर्न = मनोरथानाम् + अगतिः + न।

समास:-वेदविदाम् = वेदं विदन्ति इति वेदविदः (उपपद त०) तेषाम्;
उच्चैः पदलङ्घनोत्सुकः = उच्चैः पदस्य लङ्घनम् इति उच्चैः पदलङ्घनम् (ष०त०)
तस्मिन् उत्सुकः (स०त०); तदवाप्तिसाधनम् = तस्य अवाप्तिः इति तदवाप्तिः
(ष०त०) तस्याः साधनम् (ष०त०); अगतिः = न गतिः (नञ् त०)।

पदपरिचय:-वेदविदाम् = वेद + √विद् + क्विप् ष०वि०बहु०; श्रुतम् =
√श्रु + क्त प्र०वि०एक०; लङ्घन = √लङ्घ् + ल्युट्; अवाप्ति = अव + √आप्
+ क्तिन्; साधनम् = √साध् + ल्युट् प्र०वि०एक०; अगतिः = नञ् + √गम् +
क्तिन् प्र०वि०एक०; विद्यते = √विद् कर्म० लट् ल०पु०प्र०एक०।

अलंकार:-अर्थान्तरन्यास

छन्द:-वंशस्थ।



65. प्रसंग:-इसके बाद ब्रह्मचारी कहता है -

अथाह वर्णी विदितो महेश्वर-

स्तदर्थिनी त्वं पुनरेव वर्तसे।

अमङ्गलाभ्यासरतिं विचिन्त्य तं,

तवानुवृत्तिं न च कर्तुमुत्सहे॥ 65॥

अन्वय:-अथ वर्णी आह- महेश्वरः विदितः, पुनः त्वं तदर्थिनी एव वर्तसे।
अमङ्गलाभ्यासरतिं तं विचिन्त्य तव अनुवृत्तिं कर्तुं न उत्सहे।

सञ्जीविनी टीका:-अथेति॥ अथ वर्णी ब्रह्मचारी। ‘वर्णिनो ब्रह्मचारिणः’
इत्यमरः। आह। उवाचेत्यर्थः। ‘आहेति भूतार्थे लट्प्रयोगो भ्रान्तिमूलः’ इत्याह
वामनः। किमित्याह - महेश्वरः महादेवः विदितः। मया ज्ञायत इत्यर्थः।
बुद्ध्यर्थत्वाद्वर्तमाने क्त प्रत्ययः। तद्योगात्षष्ठी च। येन त्वं प्राग्भग्नमनोरथा कृतेति
भावः। पुनरेव त्वं तमीश्वरमर्थयसे तदर्थिनी एव तत्कामैव वर्तसे।
तत्प्रभावमनुभूयापीति भावः। अनुसरणे को दोषस्तत्राह -अमङ्गलाभ्यासरतिं

अमङ्गलाभ्यासे अमङ्गलाचारे रतिर्यस्य तं तथोक्तं तम् ईश्वरं विचिन्त्य विचार्य तवानुवृत्तिम् अनुसरणं कर्तुं न उत्सहे च । नानुमन्तुं शक्नोमीत्यर्थः ।

शब्दार्थः—अथ = इसके बाद, वर्णी = ब्रह्मचारी ने, आह = कहा, महेश्वरः = शिव, विदितः = ज्ञात है, पुनः = फिर, त्वम् = तुम, तदर्थिनी = उसे चाहने वाली, एव = ही, वर्तसे = हो, अमङ्गलाभ्यासरतिम् = अशुभ वस्तुओं से प्रेम करने वाला, तम् = उसे, विचिन्त्य = जानकर, तव = तुम्हारा, अनुवृत्तिम् = समर्थन, कर्तुम् = करने में, न = नहीं, उत्सहे = उत्साह करता हूँ।

अनुवादः—इसके बाद ब्रह्मचारी ने कहा—शिव तो ज्ञात है, फिर भी तुम उसी की अभिलाषिणी हो, (मैं तो) उसे अमंगल वस्तुओं से प्रेम करने वाला जानकर तुम्हारा अनुसरण करने में उत्साह नहीं करता हूँ।

Eng. Trans.—Then said the ascetic—“Maheśvara is well known: and yet thou hast yearning after him; knowing him as possessing a love for inauspicious things. I cannot see my way to approve of thy desire.”

व्याख्या—स्वयं पार्वती के मुख से उसकी अपने सम्बन्ध में उत्कट इच्छा को जानकर उसके मानसिक भावों की परीक्षा करने के लिए शिव उससे कह रहे हैं कि मैं शिव को बहुत अच्छे रूप में जानता हूँ अर्थात् उसकी बुराइयों, कमियों तथा अवगुणों से भली-भाँति परिचित हूँ। यद्यपि शिवजी ने प्रारम्भ में ही तुम्हारा मनोरथ भग्न कर दिया था, तुम्हारे प्रेम को ठुकरा दिया था, फिर भी तुम उसको प्राप्त करने की इच्छुक हो। वस्तुतः शिवजी अपने शरीर में चिता की भस्म लगाते हैं, श्मशान में निवास करते हैं, अपने कण्ठ में सर्पों को लपेटे रहते हैं, रक्त टपकाते हुए गजचर्म को ओढ़ते हैं—ऐसी अमंगल कारक वस्तुओं तथा आचरणों से स्नेह करने वाले उस शिव के बारे में जब मैं विचार करता हूँ तब मेरा मन नहीं करता कि मैं आपको इस बारे में उचित परामर्श दूँ।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि—अथाह = अथ + आह; विदितो महेश्वरस्तदर्थिनी = विदितः + महेश्वरः + तदर्थिनी; पुनरेव = पुनः + एव; तवानुवृत्तिं = तव + अनुवृत्तिम्।

समास—वर्णी = प्रशस्तः वर्णः यस्य अस्ति (बहु०); महेश्वरः = महान् चासौ ईश्वरः (कर्म०); तदर्थिनी = तम् अर्थयते या सा (बहु०);

अमङ्गलाभ्यासरतिम् = अमङ्गलस्य अभ्यासः (घ०त०) अमङ्गलाभ्यासे रतिः यस्य सः (बहु०) तम्।

पदपरिचयः—वर्णी = वर्ण + इनि प्र०वि०एक०; आह = √ब्रू लट् ल०प्र०पु०एक०; विदितः = √विद् + क्त प्र०वि०एक०; तदर्थिनी = तत् + √अर्थ + इनि + डीप् प्र०वि०एक०; वर्तसे = √वृत् लट् ल०म०पु०एक०; अभ्यास = अभि + √अस् + घञ्; रतिम् = √रम् + क्तिन् द्वि०वि०एक०; विचिन्त्य = वि + √चिन्त् + णिच् + ल्यप्; अनुवृत्तिम् = अनु + √वृत् + क्तिन् द्वि०वि०एक०; कर्तुम् = √कृ + तुमुन्; उत्सहे = उत् + √सह लट् ल०उ०पु०एक०।

अलंकारः—काव्यलिङ्ग

छन्दः—वंशस्थ।



66. प्रसंगः—ब्रह्मचारी पार्वती को शिवजी की अयोग्यता का परिचय देते हुए कहता है —

अवस्तुनिर्बन्धपरे कथं नु ते,

करोऽयमामुक्तविवाहकौतुकः।

करेण शम्भोर्वलयीकृताहिना,

सहिष्यते तत्प्रथमावलम्बनम्॥ 66॥

अन्वयः—हे अवस्तुनिर्बन्धपरे! आमुक्तविवाहकौतुकः ते अयं करः वलयीकृताहिना शम्भोः करेण तत्प्रथमावलम्बनं कथं नु सहिष्यते?

सञ्जीविनी टीकाः—अवस्त्विति॥ अवस्तुनि तुच्छवस्तुनि निर्बन्धोऽभिनिवेशः परं प्रधानं यस्यास्तस्याः संबुद्धिः अवस्तुनिर्बन्धपरे पार्वति। आमुक्तविवाहकौतुकः आमुक्तमासञ्जितं विवाहे यत्कौतुकं हस्तसूत्रं तद्यस्य सः ते अयं करः। 'कौतुकं मंगले हर्षे हस्तसूत्रे कुतूहले।' इति शाश्वतः। वलयीकृताहिना भूषणीकृतसर्पेण शंभोः महादेवस्य करेण करणभूतेन। तत्प्रथमावलम्बनं तदेव प्रथमं तत्प्रथमम्। अपरिचितत्वादतिभयंकरमिति भावः। तच्च तदवलम्बनं ग्रहणं चेति कथं नु सहिष्यते। न कथंचिदपि सहिष्यत इत्यर्थः। अग्रतो यद्भावि तद् दूरेऽवतिष्ठतां प्रथमं करग्रह एव दुःसह इति भावः।

शब्दार्थः—अवस्तुनिर्बन्धपरे = तुच्छ वस्तु के प्रति अत्यधिक आग्रह रखने

वाली (पार्वती) ! आमुक्तविवाहकौतुकः = विवाह सम्बन्धी मंगलसूत्र से युक्त, ते = तुम्हारा, अयम् = यह, करः = हाथ, वलयीकृताहिना = सर्प को कंगन के सदृश धारण करने वाले, शम्भोः = शिव के, करेण = हाथ से, तत्प्रथमावलम्बनम् = उस प्रथम पाणिग्रहण को, कथम् नु = किस प्रकार, सहिष्यते = सहन कर सकेगा।

अनुवादः—हे तुच्छ वस्तु के प्रति अत्यधिक आग्रह रखने वाली (पार्वती) ! विवाह सम्बन्धी मंगलसूत्र को धारण किए हुए तेरा यह हाथ, सर्प को कंगन के सदृश धारण करने वाले शिव के हाथ के द्वारा प्रथम ग्रहण को किस प्रकार सहन कर सकेगा?

Eng. Trans.—O thou who hast fixed (the mind) on a worthless object, how can this thy hand, with the nuptial string tied round it, bear the first clasp of Śiva's hand decked with circling snakes?

व्याख्या—पार्वती की परीक्षा के लिए ब्रह्मचारी उसे डराते हुए उससे कहता है कि हे पार्वती ! शिव विषयक तुम्हारा आग्रह तुम्हारे अनुरूप प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि शिव अशुभ वस्तुओं को धारण करने वाले हैं। वह अपने हाथ में कंगन के स्थान पर वासुकि नामक सर्प को लपेटे रहते हैं। विवाह संस्कार में जब प्रथम बार पाणि ग्रहण किया जाता है तब उस समय वर वधू के हाथ को प्रथम बार पकड़ता है। इसी कृत्य की ओर ही प्रस्तुत श्लोक में संकेत है। ब्रह्मचारी के कहने का भाव यह है कि जब पाणि ग्रहण के समय शिव कंगन के स्थान पर लिपटे सर्प से युक्त अपने हाथ से पार्वती के मंगलसूत्र से युक्त हाथ को पकड़ेंगे तो उस समय जब शिव के हाथ की कलाई में सर्प लिपटा होगा तो भय के कारण पार्वती अपने हाथ को स्वयं ही दूर खींच लेगी। इस प्रकार प्रथम पाणिग्रहण ही नहीं हो सकेगा।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि—करोऽयम् = करः + अयम्।

समास—अवस्तुनिर्बन्धपरे = अप्रशस्तं वस्तु इति अवस्तु (नञ् त०), अवस्तुनि निर्बन्धः इति अवस्तुनिर्बन्धः (स०त०), अवस्तुनिर्बन्धः एव प्रधानं यस्याः सा (बहु०) तत्सम्बुद्धौ; आमुक्तविवाहकौतुकः = विवाहस्य कौतुकम्

इति विवाहकौतुकम् (ष०त०), आमुक्तं विवाहकौतुकं येन सः (बहु०); वलयीकृताहिना = न वलयः अवलयः (नञ् त०), अवलयः वलयः यथा सम्पद्यते तया कृतः वलयीकृतः, वलयीकृतः अहिः यस्मिन् सः (बहु०) तेन; तत्प्रथमावलम्बनम् = प्रथमम् अवलम्बनं प्रथमावलम्बनम् (कर्म०), तदेव प्रथमावलम्बनम् (कर्म०)।

पदपरिचयः—आमुक्त = आ + √मुच् + क्त; वलयीकृत = वलय + च्वि + √कृ + क्त; अवलम्बनम् = अव + √लम्ब् + ल्युट् द्वि० वि० एक०; सहिष्यते = √सह लृट् ल० प्र० पु० एक०।

अलंकारः—विषम

छन्दः—वंशस्थ।



67. प्रसंगः—अब ब्रह्मचारी वर-वधू के वस्त्रों की ओर संकेत करता हुआ कहता है -

त्वमेव तावत्परिचिन्तय स्वयं,

कदाचिदेते यदि योगमर्हतः।

वधूदुकूलं कलहंसलक्षणं,

गजाजिनं शोणितबिन्दुवर्षि च॥ 67॥

अन्वयः—त्वमेव तावत् स्वयं परिचिन्तय, कलहंसलक्षणं वधूदुकूलं शोणितबिन्दुवर्षि गजाजिनं च एते कदाचित् योगम् अर्हतः यदि?।

सञ्जीविनी टीकाः—त्वमेवेति॥ हे गौरि! त्वम् एव स्वयम् आत्मना। तावत् इति मात्रार्थे। यावन्मात्रं विचारणीयं तावन्मात्रमित्यर्थः। इदमेवोदाहृतं च गणव्याख्याने। परिचिन्तय पर्यालोचय। किमिति, कलहंसलक्षणं कलहंसचिह्नम्। 'चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्' इत्यमरः। वध्वा नवोढाया दुकूलं वधूदुकूलम्। 'वधूः स्नुषा नवोढा स्त्री' इति विश्वः। तथा शोणितबिन्दुवर्षि शोणितबिन्दून्वर्षतीति तथोक्तम्। आर्द्रमित्यर्थः। गजाजिनं च कृत्तिवासश्च। तत्पिनाकिनः इत्याशयः। एते कदाचित् जात्वपि योगं संगतिम् अर्हतः यदि अर्हतः किम्। एतत्त्वमेव चिन्तयेति पूर्वोक्तान्वयः। पाणिग्रहणकाले वधूवरयोर्वस्त्रान्तग्रन्थिः क्रियते। कृत्तिवाससा पाणिपीडने तु दुकूलधारिण्यास्तव स कथं संघटितप्यत इति भावः।

शब्दार्थः—त्वम् = तुम, एव = ही, तावत् = भली भाँति, स्वयं = अपने आप, परिचिन्तय = सोच लो, कलहंसलक्षणम् = कलहंसों के चित्र से युक्त; वधूदुकूलम् = बहु का रेशमी वस्त्र, शोणितबिन्दुवर्षि = रक्त की बूंदों को टपकाता हुआ, गजाजिनम् = गजचर्म, एते = ये दोनों, कदाचित् = कभी, योगम् = संगति के, अर्हतः = योग्य हैं।

अनुवादः—तुम स्वयं ही भलीभाँति विचार करो कि हंस के चिह्न से युक्त नवविवाहिता वधू का रेशमी वस्त्र और रक्त की बूंदों की वर्षा करने वाली हाथी की खाल-ये दोनों क्या कभी एक साथ रहने योग्य हैं?

Eng. Trans.—Do thou thyself consider adequately, whether these two things should ever deserve to be brought together—(your) bridal silks gleaming with the (figure of) swans, and (Śiva's) elephant-hide dripping with blood?

व्याख्या—पार्वती की परीक्षा के निमित्त ब्रह्मचारी वेषधारी शिव उससे कह रहे हैं कि हे पार्वती! वास्तव में शिव तुम्हारे योग्य नहीं है। यह तुम ही विचारपूर्वक देख लो कि कहाँ तो हंस की छाप वाली रेशमी चुनरी ओढ़े हुए आप और कहाँ रक्त की बूँदें टपकती हुई शिवजी के कन्धे पर पड़ी हुई हाथी की खाल-भला इन दोनों का मेल कैसे हो सकता है? कहने का तात्पर्य यह है कि विवाह में गठबन्धन होते समय वर एवं वधू के वस्त्रों के छोरों में गाँठ बाँधी जाती है। क्या यह गाँठ शिवजी के गीले गजचर्म और पार्वती के रेशमी वस्त्र में बाँधी जा सकती है? शिवजी ने गजासुर का वध करने के पश्चात् उसका गीला चर्म ओढ़ लिया था। ताजा रहने के कारण उसमें से रक्त की बूँदें भी टपक रही थीं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि—कदाचिदेते = कदाचित् + एते।

समास—कलहंसलक्षणम् = कलशचासौ हंसः कलहंसः (कर्म०), कलहंस एव लक्षणं यस्य तत् (बहु०); वधूदुकूलम् = वध्वाः दुकूलम् (ष०त०); शोणितबिन्दुवर्षि = शोणितस्य बिन्दवः इति शोणितबिन्दवः (ष०त०), शोणितबिन्दून् साधु वर्षति (द्वि०त०); गजाजिनम् = गजस्य अजिनम् (ष०त०)।

पदपरिचय—परिचिन्तय = परि + √चिन्त् + णिच् लोट् ल०म०पु०एक०; अर्हतः = √अर्ह लट् ल० प्र०पु०द्वि०।

अलंकारः-विषम

छन्दः-वंशस्थ ।



68. प्रसंगः-ब्रह्मचारी पार्वती से कह रहा है कि तुम शिव के साथ श्मशान भूमि में किस प्रकार निवास कर सकोगी -

चतुष्कपुष्पप्रकरावकीर्णयोः,

परोऽपि को नाम तवानुमन्यते ।

अलक्तकाङ्कानि पदानि पादयो-

विकीर्णकेशासु परेतभूमिषु ॥ 68 ॥

अन्वयः-चतुष्कपुष्पप्रकरावकीर्णयोः तव पादयोः अलक्तकाङ्कानि पदानि विकीर्णकेशासु परेतभूमिषु परोऽपि को नाम अनुमन्यते ।

सञ्जीविनी टीकाः-चतुष्केति ॥ चतुष्कपुष्पप्रकरावकीर्णयोः चतुष्के गृहविशेषे यः पुष्पप्रकरस्तत्रावकीर्णयोन्यस्त्योः । कुसुमास्तृतदिव्यभवन-भूसंचारोचितयोरित्यर्थः । तव पादयोः अलक्तकाङ्कानि लाक्षारञ्जितानि पदानि पादाकाराणि पादन्यासचिह्नानि । 'पदं शब्दे च वाक्ये च व्यवसायापदेशयोः । पादतच्चिह्नयोः' इति विश्वः । विकीर्णाः विक्षिप्ताः केशाः शवशिरोरुहा यासु तासु विकीर्णकेशासु । 'अतत्स्थं तत्र दृष्टं च' इति वचनात् 'स्वांगाच्चोप-सर्जनादसंयोगोपधात्' इति विकल्पान्न डीष् । परेतभूमिषु प्रेतभूमिषु । श्मसानेष्वित्यर्थः । परः अपि शत्रुरपि कः नाम अनुमन्यते । न कोऽपीत्यर्थः । नामेति कुत्सायाम् । पिनाकपाणिपाणिग्रहणे तस्य परेतभूसंचारित्वेन साहचर्यात्तवापि तत्र संचारोऽवश्यंभावीति भावः ।

शब्दार्थः-चतुष्कपुष्पप्रकरावकीर्णयोः = चतुष्कोण आँगन में बिखरे हुए फूलों पर रखे जाने वाले, तव = तुम्हारे, पादयोः = पैरों के, अलक्तकाङ्कानि = लाक्षारस से अंकित, पदानि = चिन्हों को, विकीर्णकेशासु = बिखरे हुए बालों से युक्त, परेतभूमिषु = श्मशानभूमि में, परः = शत्रु, अपि = भी, को नाम = कोई, अनुमन्यते = अनुमति दे सकता है ।

अनुवादः-चतुष्कोण आँगन में बिखरे हुए फूलों पर रखे जाने वाले तेरे पैरों के लाक्षारस से अंकित चिन्हों को बिखरे हुए बालों से युक्त श्मशान भूमि पर रखने की अनुमति कोई शत्रु भी दे सकता है?

Eng. Trans.:-Who, even an enemy, would consent (to see) the footprints, leaving marks of *alaktaka* (red dye), of thy feet accustomed to tread upon flower-decorations (on the floors) of the saloons, traced upon burning-grounds spread over with the hair (of corpses)?

व्याख्या:—ब्रह्मचारी पार्वती से कह रहे हैं कि हे गौरी! तुम जन्म से लेकर अपने घर में पुष्प बिछे हुए आँगन में चलती आई हो। किन्तु शिव से विवाह हो जाने के पश्चात् इधर-उधर बिखरे हुए बालों से युक्त श्मशान भूमि पर अपने लाक्षारस से रञ्जित चरणों को रखोगी तो इस बात को तुम्हारा शत्रु भी स्वीकार नहीं कर सकेगा।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:—

सन्धि:—परोऽपि = परः + अपि; तवानुमन्यते = तव + अनुमन्यते।

समास:—चतुष्कपुष्पप्रकरावकीर्णयोः = चत्वारः अवयवाः यस्य तत् इति चतुष्कम् (बहु०), पुष्पाणां प्रकरः इति पुष्पप्रकरः (ष०त०), चतुष्के पुष्पप्रकरः (स०त०), चतुष्कपुष्पप्रकरे अवकीर्णः (स०त०) तयोः; अलक्तकाङ्कानि = अलक्तकः अङ्कः येषां तानि (बहु०); विकीर्णकेशासु = विकीर्णाः केशाः यासु ताः (बहु०) तासु; परेतभूमिषु = परं लोकः इतः गतः इति परेतः (द्वि०त०), परेतानां भूमिः (ष०त०) तासु।

पदपरिचय:—चतुष्क = चतुर् + कन्; प्रकर = प्र + √कृ + अप्; अवकीर्ण = अव + √कृ + क्त; विकीर्ण = वि + √कृ + क्त; परेत = परा + √इ + क्त, अनुमन्यते = अनु + √मन् कर्म० लट् ल० प्र० पु० एक०।

अलंकार:—पर्यायोक्त

छन्दः—वंशस्थ।



69. प्रसंगः—पतिगृह में प्रवेश करने के बाद उस शिव के शरीर के साथ तुम्हारा स्पर्श भी अनुचित ही होगा -

अयुक्तरूपं किमतः परं वद,

त्रिनेत्रवक्षःसुलभं तवापि यत्?

स्तनद्वयेऽस्मिन्हरिचन्दनास्पदे,

पदं चिताभस्मरजः करिष्यति॥ 69॥

अन्वयः—त्रिनेत्रवक्षः तव सुलभम् अपि अतः परम अयुक्तरूपं किम्? वद, यत् हरिचन्दनास्पदे अस्मिन् स्तनद्वये चिताभस्मरजः पदं करिष्यति।

सञ्जीविनी टीका—अयुक्तेति ॥ त्रिनेत्रवक्षः। त्र्यम्बकालिङ्गनमित्यर्थः। तव तत्संबन्धितया सुलभम् अपि सुप्रापं च। भवतीति शेषः। तवेति शेषे षष्ठी। 'न लोकाव्यय'—इत्यादिना कृद्योगलक्षणषष्ठ्या निषेधात्। अतः परम् अस्मात् त्रिनेत्रवक्षोलाभादन्यद् अयुक्तम् रूपं अत्यन्तायुक्तं किं वद। न किञ्चिदित्यर्थः। 'प्रशंसायां रूपम्' इति रूपप्रत्ययः। कुतः। यत् यस्मात् कारणात् हरिचन्दनास्पदे हरिचन्दनस्यास्पदे स्थानभूते अस्मिन् स्तनद्वये चिताभस्मरजः चिताभस्म श्मशानभस्म तदेव रजश्चूर्णं। कर्तुं। पदं करिष्यति पदं निधास्यति। भर्तुर्भवस्य भस्माङ्गरागादिति भावः।

शब्दार्थः—त्रिनेत्रवक्षः = शिव का वक्षःस्थल, तव = तुम्हारे लिए, सुलभम् = सुप्राप्य (होने पर), अपि = भी, अतः परम् = इससे अधिक, अयुक्तरूपम् = अनुचित, किम् = क्या हो सकता है, वद = बोलो, यत् = कि, हरिचन्दनास्पदे = हरिचन्दन का लेप लगाये जाने वाले, अस्मिन् = इन, स्तनद्वये = स्तनों पर, चिताभस्मरजः = चिता की राख, पदम् = स्थान, करिष्यति = बना लेगी।

अनुवादः—शिव का वक्षःस्थल तुम्हारे लिए सुप्राप्य होने पर भी इससे अधिक अनुचित और क्या हो सकता है, बोलो, कि हरिचन्दन का लेप लगाए जाने योग्य इन स्तनों पर चिता की राख स्थान बना लेगी।

Eng. Trans.—Say—Is there anything more ungainly than this, that the ashes of the funeral pyres, easy to be obtained from the bosom of the three-eyed God, will make their home on thy bosom, which has (hitherto) been a (fitting) place for sandal-wood paste?

व्याख्या—ब्रह्मचारी पार्वती से कह रहे हैं कि हे पार्वती। शिव अपने शरीर में सदैव चिता की भस्म लगाए रहते हैं और तुम्हारा वक्षस्थल हरिचन्दन के लेप से युक्त रहता है। ऐसी स्थिति में जब शिव तुम्हारा आलिङ्गन करेंगे तब तुम्हारे दोनों स्तन चिता की धूलि से लिप्त हो जाएँगे। यह अत्यन्त अनुचित होगा क्योंकि चन्दन का लेप लगाने योग्य आपके स्तन चिता की भस्म का लेप लगाने योग्य नहीं हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धिः-तवापि = तव + अपि; स्तनद्वयेऽस्मिन् = स्तनद्वये + अस्मिन्।

समासः-त्रिनेत्रवक्षः = त्रीणि नेत्राणि यस्य सः त्रिनेत्रः (बहु०), तस्य वक्षः (ष०त०); अयुक्तरूपम् = न युक्तम् अयुक्तम् (नञ् त०), अतिशयेन अयुक्तम् इति अयुक्तरूपम् (अव्ययी०); हरिचन्दनास्पदे = हरेः चन्दनं हरिचन्दनम् (ष०त०) तस्य आस्पदम् (ष०त०) तस्मिन्; स्तनद्वये = स्तनयोः द्वयम् (ष०त०) तस्मिन्; चिताभस्मरजः = चितायाः भस्म इति चिताभस्म (ष०त०), तत् एव रजः (कर्म०)।

पदपरिचयः-सुलभम् = सु + √लभ् + खल् प्र०वि०एक०; अतः = इदम् शब्द पं०वि०एक०; द्वये = द्वि + अयच् सं०वि०एक०; करिष्यति = √कृ लृट् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकारः-विषम

छन्दः-वंशस्थ।



70. प्रसंगः-इसके अतिरिक्त जब शिवजी के बूढ़े बैल पर चढ़कर ले जाई जाओगी तब इसमें तुम्हारी और भी हँसी होगी -

इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना,

यदूढया वारणराजहार्यया।

विलोक्य वृद्धोक्षमधिष्ठितं त्वया,

महाजनः स्मेरमुखो भविष्यति॥ 70॥

अन्वयः-इयं च ते पुरतः अन्या विडम्बना (अस्ति) यत् ऊढया वारणराजहार्यया त्वया वृद्धोक्षं अधिष्ठितं विलोक्य महाजनः स्मेरमुखः भविष्यति।

सञ्जीविनी टीकाः-इयमिति॥ इयं च ते तव पुरतः आदावेवान्या विडम्बना। परिहास इत्यर्थः। का सेत्यत्राह-ऊढया परिणीतया। वहेः कर्मणि क्तः। वारणराजहार्यया त्वया अधिष्ठितम् आरूढं वृद्धमुक्षाणं वृद्धोक्षम्। 'अचुतर-' इत्यादिना निपातः। विलोक्य महाजनः साधुजनः स्मेरमुखः स्मितमुखः भविष्यति उपहसिष्यति यत्। इयमिति पूर्वण सम्बन्धः। स्मेरेति 'नमिकम्पिस्मियज'-इत्यादिना प्रत्ययः।

शब्दार्थः-इयम् = यह, ते = तुम्हारी, पुरतः = सबसे पहले, अन्या = एक

और, विडम्बना = हँसी (होगी), यत् = कि, वारणराजहार्यया = गजराज के द्वारा ले जायी जाने योग्य, ऊढया = विवाहिता, त्वया = तुमको, वृद्धोक्षम् = वृद्ध बैल पर, अधिष्ठितम् = चढ़ा हुआ, विलोक्य = देखकर, महाजनः = सभ्यजन, स्मेरमुखः = मुस्कान से युक्त मुख वाले, भविष्यति = हो जाएँगे।

अनुवादः—यह तुम्हारी सर्वप्रथम एक और हँसी होगी कि गजराज के द्वारा ले जाई जाने योग्य विवाहिता तुमको (शिव के) वृद्ध बैल पर चढ़ा हुआ देखकर सभ्यजन उपहास करेंगे।

Eng. Trans.:—Then again, this another humiliation will await thee— great men will have smiling countenances, on seeing thee, fit to be borne by a lordly elephant, striding (Siva's) old bull, after marriage.

व्याख्याः—ब्रह्मचारी पार्वती से कह रहे हैं कि हे पार्वती! गजराज ही तुम्हारे लिए उपयुक्त सवारी है। शिव का वाहन तो बूढ़ा बैल है। अतः विवाह संस्कार हो जाने के पश्चात् पतिगृह को प्रस्थान करते समय जब तुम उस बूढ़े बैल नन्दी पर बैठकर गमन करोगी तो तुमको इस अवस्था में देखकर सभ्यजन तुम्हारा उपहास करेंगे। इस भाँति तुम्हारा अत्यधिक उपहास होगा।

व्याकरणात्मक टिप्पणीः—

सन्धिः—तेऽन्या = ते + अन्या।

समासः—वारणराजहार्यया = हारयितुं योग्या हार्या, वारणानां राजा वारणराजः(ष०त०), वारणराजेन हार्या (तृ०त०) तथा; वृद्धोक्षम् = वृद्धश्चासौ उक्षा वृद्धोक्षः (कर्म०) तम्; महाजनः = महान् चासौ जनः (कर्म०); स्मेरमुखः = स्मेरं मुखं यस्य सः (बहु०)।

पदपरिचयः—विडम्बना = वि + √डम्ब् + णिच् + युच् + टप् प्र०वि०एक०; हार्यया = √ह् + ण्यत् + टप् तृ०वि०एक०; ऊढया = √वह् + क्त + टप् तृ०वि०एक०; अधिष्ठितम् = अधि + √स्था + क्त प्र०वि०एक०; विलोक्य = वि + √लोक् + ल्यप्; भविष्यति = √भू लृट् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकारः—विषम

छन्दः—वंशस्थ।



71. प्रसंगः—शिव को प्राप्त करने की इच्छा के कारण इस समय चन्द्रमा की कला तथा तुम-दोनों ही शोचनीय हो गई हो—

द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां,

समागमप्रार्थनया पिनाकिनः ।

कला च सा कान्तिमती कलावत-

स्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥71॥

अन्वयः—पिनाकिनः समागमप्रार्थनया सम्प्रति द्वयं शोचनीयतां गतं— कलावतः सा कान्तिमती कला अस्य लोकस्य नेत्रकौमुदी त्वं च ।

सञ्जीविनी टीका.—द्वयमिति ॥ पिनाकिनः ईश्वरस्य समागमप्रार्थनया प्राप्तिकामनया । क्रियमाणयेति शेषः । संप्रति द्वयं शोचनीयतां शोच्यत्वं गतम् । किं तदाह—सा प्रागेव हरशिरोगता । अत्र सेति प्रसिद्धार्थत्वान् यच्छब्दापेक्षा । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—‘प्रकान्तप्रसिद्धानुभूतार्थविषयस्तच्छब्दो यदुपादानं नापेक्षते ।’ इति । कान्तिमती । नित्ययोगे मतुप् । कलावतः चन्द्रस्य कला षोडशो भागः च । अस्य लोकस्य नेत्रकौमुदी । नेत्रानन्दिनीत्यर्थः । त्वं च । कान्तिमतीत्वनेत्रकौमुदीत्वविशेषण —योरुभयत्राप्यन्वयः । प्रागेकैव शोच्या । संप्रति तु तवमप्यपरेति द्वयं शोच्यमिति पिण्डितार्थः । शोच्यत्वं च निकृष्टश्रयणादिति भावः ।

शब्दार्थः—पिनाकिनः = शिव की, समागमप्रार्थनया = प्राप्त करने की इच्छा से, सम्प्रति = इस समय, कलावतः = चन्द्रमा की, सा = वह, कान्तिमती = अति सुन्दर, कला = कला, च = और, अस्य = इस, लोकस्य = संसार की, नेत्रकौमुदी = नेत्रों की चाँदनी सृदश, त्वम् = तुम्, द्वयम् = दोनों, शोचनीयताम् = शोचनीयता को, गतम् = प्राप्त हो गई है ।

अनुवादः—शिव को प्राप्त करने की इच्छा से इस समय चन्द्रमा की वह प्रसिद्ध कान्तियुक्त कला और इस लोक के नेत्रों की चाँदनी सदृश तुम-ये दोनों ही शोचनीयता को प्राप्त हो गई है ।

Eng. Trans.:—By their earnest (desire) for union with Śiva, two things have now become objects of commiseration : that bright digit of the moon, and thyself who art the moonlight of the eyes of this world.

व्याख्याः—ब्रह्मचारी पार्वती से कह रहे हैं कि हे पार्वती ! शिव की प्राप्ति

सम्बन्धी तुम्हारी इच्छा पूर्णतया अनुचित प्रतीत होती है क्योंकि अमांगलिक उस शिव के संसर्ग को प्राप्त करके शुभ वस्तु भी शोचनीय हो जाती है। महादेव के सिर पर विद्यमान चन्द्रमा की वह प्रसिद्ध कला तो उसके संसर्ग से पहले ही शोचनीयता को प्राप्त कर चुकी है और अब इस समय उसकी प्राप्ति की इच्छा से संसार को आनन्द प्रदान करने वाली तुम भी शोचनीयता को प्राप्त कर लोगी। इसलिए निकृष्ट उस शिव को प्राप्त करने की लालसा को तुम्हें त्याग देना चाहिए।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

समासः-पिनाकिनः = पिनाकम् अस्यास्तीति पिनाकी (बहु०) तस्य; समागमप्रार्थनया = समागमस्य प्रार्थना (ष०त०) तया; कलावतः = कला अस्ति अस्य इति कलावत् (बहु०) तस्य; कान्तिमती = कान्तिः अस्याः अस्ति इति (बहु०) नेत्रकौमुदी = नेत्रयोः कौमुदी (ष०त०); द्वयम् = द्वौ अवयवौ यस्य तत् (बहु०)।

पदपरिचयः-पिनाकिनः = पिनाक + इनि ष०वि०एक०; समागम = सम् + आ + √गम् + अप्; प्रार्थनया = प्र + √अर्थ् + णिच् + युच् + टप् तृ०वि०एक०; कलावतः = कला + वतुप् ष०वि०एक०; कान्तिमती = कान्ति + मतुप् + डीप् प्र०वि०एक०; द्वयम् = द्वि + अयच् प्र०वि०एक०; शोचनीयताम् = √शुच् + णिच् + अनीयर् + तल् + टप् द्वि०वि०एक०; गतम् = √गम् + क्त प्र०वि०एक०।

अलंकारः-दीपक

छन्दः-वंशस्थ।



72. प्रसंगः-वर में जिन बातों की खोज की जाती है, क्या उनमें से एक भी शिव में है-

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता,

दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।

वरेषु यद् बालमृगाक्षि! मृग्यते,

तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने॥ 72॥

अन्वयः-वपुः विरूपाक्षम् अलक्ष्यजन्मता, वसु दिगम्बरत्वेन निवेदितम्, हे बालमृगाक्षि! वरेषु यत् मृग्यते तत् त्रिलोचने व्यस्तम् अपि अस्ति किम्?।

सञ्जीविनी टीका:—वपुरिति ।। वपुः तावदस्य विरूपाणि विकृतरूपाण्यक्षीणि नेत्राणि यस्य तद् विरूपाक्षम् । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्' इति षच्प्रत्ययः । वैरूप्यं च त्रिनेत्रत्वादिति क्षीरस्वामी । अतो न सौन्दर्यवार्तापीत्यर्थः । अलक्ष्यजन्मता अलक्ष्यमज्ञातं जन्म यस्य तस्य भावस्तत्ता । कुलमपि न ज्ञायत इत्यर्थः । 'अलक्षिता जनिः' इति पाठे जनिरुत्पत्तिरलक्षिता न ज्ञाता । 'जनिरुत्पत्तिरुद्भवः' इत्यमरः । वसु वित्तं दिगम्बरत्वेन एव निवेदितम् । नास्तीति ज्ञापितमित्यर्थः । यदि वित्तं भवति तदा कथं दिगम्बरो भवति । अतो ज्ञेयं निर्धनोऽयमिति । किं बहुना । हे बालमृगाक्षि पार्वति, वरेषु वोढुषु । 'वरौ जामातृवोढारौ' इति विश्वः । यत् रूपवित्तादिकं मृग्यते कन्यातद्वन्धुभिरन्विष्यते तत् त्रिलोचने त्र्यम्बके व्यस्तम् एकम् अपि । समस्तं मा भूदिति भावः । अस्ति किम् । नास्त्येवेत्यर्थः ।

शब्दार्थः—वपुः = शरीर, विरूपाक्षम् = विषम आँखों वाला, अलक्ष्यजन्मता = अज्ञात जन्म होना, वसु = धन, दिगम्बरत्वेन = नग्न होने से, निवेदितम् = प्रकट होता है, बालमृगाक्षि = हे बाल मृग के नेत्रों के समान नेत्र वाली !, वरेषु = वरों में, यत् = जो, मृग्यते = खोजा जाता है, तत् = वह, त्रिलोचने = शिव में, व्यस्तम् = एक, अपि = भी, अस्ति = है, किम् = क्या?

अनुवादः—(शिव का) शरीर विषम नेत्रों से युक्त है, जन्म के विषय में कुछ ज्ञात नहीं, उनका नग्न रहना ही उनके धन के विषय में सूचित करता है । हे बाल मृग के नेत्रों के समान नेत्र वाली (पार्वती) ! वरों में जो (गुण) ढूँढे जाते हैं, क्या उनमें से एक भी शिव में है?

Eng. Trans.:—His body possesses monstrous eyes, his parentage is obscure (not to be found out), and his wealth is shown by his nudity (*lit.* having the quarters for a garment). O thou having eyes like those of a young gazelle, whatever is expected in a husband,—is that, even in part, found in the three-eyed One?

व्याख्या:—शिव से विवाह होने पर पार्वती की शोचनीय अवस्था का वर्णन करते हुए ब्रह्मचारी पार्वती से कह रहे हैं कि हे पार्वती ! विवाह से पूर्व वधू की ओर से उसके पिता, भाई आदि वर के कुल, सौन्दर्य, धन तथा उसकी विद्या के बारे में छानबीन करते हैं, किन्तु आपके अभीष्ट वर में तो इनमें से एक भी दृष्टिगोचर नहीं होता है, क्योंकि तीन नेत्रों से युक्त उसका शरीर विकृत है, उनकी

उत्पत्ति किस कुल में हुई है, इस बात को कोई नहीं जानता है, उनमें धनवान् न होने का स्पष्ट प्रमाण उनका नग्न रहना ही है। क्योंकि धनवान् पुरुष कभी भी नग्न नहीं रहते हैं। अतः वह किसी भी दशा में तुम्हारे योग्य वर नहीं है।

विवाह प्रकरण में वर के विचार के बारे में आता है-

कन्या कामयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम्।

बान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्ट्यन्नमितरे जनाः॥

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धि:-तदस्ति = तत् + अस्ति; व्यस्तमपि = व्यस्तम् + अपि।

समास:-विरूपाक्षम् = विगतं रूपं यस्य तत् इति विरूपम् (बहु०), विरूपम् अक्षि यस्य तत् (बहु०); अलक्ष्यजन्मता = लक्षितुं योग्यं लक्ष्यम् (उपपद त०), न लक्ष्यम् इति अलक्ष्यम् (नञ् त०), अलक्ष्यं जन्म यस्य सः इति अलक्ष्यजन्मा (बहु०) तस्य भावः (ष०त०); दिगम्बरत्वेन = दिगेव अम्बरं यस्य सः दिगम्बरः (बहु०), तस्य भावः (ष०त०) तेन; बालमृगाक्षि = बालश्चासौ मृगः बालमृगः (कर्म०), तस्य अक्षिणी इव अक्षिणी यस्याः सा इति बालमृगाक्षी (बहु०) तत्सम्बुद्धौ; त्रिलोचने = त्रीणि लोचनानि यस्य सः (बहु०) तस्मिन्।

पदपरिचय:-विरूपाक्षम् = विरूप + अक्षि + षच् प्र०वि०एक०; निवेदितम् = नि + √विद् + णिच् + क्त प्र०वि०एक०; बालमृगाक्षि = बालमृग + अक्षि + षच् + डीप् सम्बो०एक०; वरेषु = √वृ + अप् स०वि०बहु०; मृग्यते = √मृग् + णिच् लट् ल०प्र०पु०एक०; व्यस्तम् = वि + √अस् + क्त प्र०वि०एक०; अस्ति = √अस् लट् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकार:-परिकर

छन्द:-वंशस्थ।



73. प्रसंग:-अब ब्रह्मचारी कहने योग्य बात को कहकर अपना कथन समाप्त करता है-

निवर्तयास्मादसदीप्सितान्मनः,

क्व तद्विधस्त्वं क्व च पुण्यलक्षणा।

अपेक्ष्यते साधुजनेन वैदिकी,

श्मशानशूलस्य न यूपसत्क्रिया ॥ 73 ॥

अन्वयः—अस्मात् असदीप्सितात् मनः निवर्तय। तद्विधः क्व? पुण्यलक्षणा त्वं च क्व? साधुजनेन श्मशानशूलस्य वैदिकी यूपसत्क्रिया न अपेक्ष्यते।

सञ्जीविनी टीकाः—निर्वर्तयेति ॥ अस्माद् असदीप्सितात् अनिष्टमनोरथात् मनः निवर्तय निवारय। तद्विधः सा पूर्वोक्ता विधा प्रकारो यस्य तथोक्तः। अमङ्गलशील इत्यर्थः। क्व। महदन्तरमित्यर्थः। पुण्यलक्षणा प्रशस्तभाग्यचिह्ना त्वं च क्व। अतो न तवायमर्ह इत्यर्थः। तथा हि। साधुजनेन। 'साधुर्वाधुषिके चारौ सज्जने चाभिधेयवत्' इति विश्वः। श्मशानशूलस्य श्मशानभूमिनिखातस्य मध्यशङ्को वैदिकी वेदोक्ता। यूपो नाम पशुबन्धनसाधनभूतः संस्कृतदारुविशेषस्तस्य सत्क्रिया प्रोक्षणाभ्युक्षणादिसंस्कारः यूपसत्क्रिया न अपेक्ष्यते नेष्यते। यथा श्मशानशूले यूपसत्क्रिया न क्रियते तथा त्वमपि तस्मै न घटस इति तात्पर्यार्थः।

शब्दार्थः—अस्मात् = इस, असदीप्सितात् = अनिष्ट मनोरथ से, मनः = मन को, निवर्तय = लौट लो, तद्विधः = उस प्रकार का, क्व = कहाँ, पुण्यलक्षणा = शुभ लक्षणों वाली, त्वम् = तुम, साधुजनेन = सज्जन पुरुष के द्वारा, श्मशान शूलस्य = श्मशान में गड़े हुए खूँटे का, वैदिकी = वेदों में वर्णित, यूपसत्क्रिया = यज्ञस्तम्भ सम्बन्धी सत्कार, न = नहीं, अपेक्ष्यते = अपेक्षित होता है।

अनुवादः—इस बुरे विचार से अपने मन को लौट लो, उस प्रकार का कहाँ (वह शिव) और सौभाग्य युक्त लक्षणों वाली कहाँ तुम ? साधुजनों के द्वारा श्मशान के खूँटे का वेदों में वर्णित यज्ञ-स्तम्भ सम्बन्धी सत्कार अपेक्षित नहीं होता है।

Eng. Trans.:—Turn thy heart from this evil desire; what a distance is there between one of that kind, and thee with auspicious marks? A stake in the cemetery is not to be treated by the good with the Vedic rites proper for a sacrificial post."

व्याख्याः—ब्रह्मचारी वेषधारी शिव पार्वती को समझाते हुए अन्त में उससे कह रहे हैं कि हे पार्वती! शिव आपके अनुरूप वर नहीं है। आपमें तथा उसमें महान् अन्तर है। तुम तो सौभाग्यशाली सभी लक्षणों से परिपूर्ण हो और वह पूर्वोक्त सम्पूर्ण दोषों से परिपूर्ण है। इसलिए तुम शिव की प्राप्ति रूपी इस अनिष्ट

मनोरथ से अपने मन को हटा लो। जैसे वेदों में वर्णित यज्ञ-स्तम्भ के समान ही श्मशान में स्थित खूँटे का सत्कार नहीं किया जा सकता है, उसी भाँति सर्वगुणसम्पन्न कुलीन व्यक्ति ही तुम्हारा वर होने योग्य है, श्मशान में निवास करने वाला शिव नहीं। भाव यह है कि श्मशान का खूँटा अशुभ के लिए होता है किन्तु यज्ञस्तम्भ शुभ कार्य के लिए प्रयुक्त होता है। इसी कारण यज्ञस्तम्भ का वैदिक रीति से संस्कार होता है किन्तु श्मशान के खूँटे का वैदिक रीति से संस्कार किया जाना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार श्मशान में विचरण करने वाले शिव के साथ विवाह करने की तुम्हारी उत्कट अभिलाषा को उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है। प्रस्तुत श्लोक में वर्णित 'यूपसत्क्रिया' पार्वती का प्रतीक है और 'श्मशानशूल' शिव का। इसलिए ब्रह्मचारी का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है कि पार्वती के लिए उनका अभिलषित वर शिव उनके लिए सर्वथा अनुपयुक्त अतएव त्याज्य है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धि:-निवर्तयास्मादसदीप्सितान्मनः = निवर्तय + अस्मात् + असदीप्सितात् + मनः; तद्विधस्त्वं = तद्विधः + त्वम्।

समास:-असदीप्सितात् = न सत् इति असत् (नञ् त०), असत् च तत् ईप्सितम् असदीप्सितम् (कर्म०) तस्मात्; तद्विधः = तस्य विधा इति तद्विधा (ष०त०), तद्विधा इव विधा यस्य सः (बहु०); पुण्यलक्षणा = पुण्यानि लक्षणानि यस्याः सा (बहु०); साधुजनेन = साधुश्चासौ जनः साधुजनः (कर्म०) तेन; श्मशानशूलस्य = श्मशानस्य शूलं (ष०त०) तस्य; वैदिकी = वेदे भवा (स०त०); यूपसत्क्रिया = यूपस्य सत्क्रिया (ष०त०)।

पदपरिचय:-असदीप्सितात् = असत् + √आप् + सन् + क्त प०वि०एक०; निवर्तय = नि + √वृत् + णिच् लोट् ल०म०पु०एक०; वैदिकी = वेद + ठञ् + डीप् प्र०वि०एक०; अपेक्ष्यते = अप + √ईक्ष् कर्म० लट् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकार:-विषम, दृष्टान्त

छन्द:-वंशस्थ।



74. प्रसंग:-ब्रह्मचारी के इस अनर्गल प्रलाप को सुनकर पार्वती ने क्रोधपूर्ण नेत्रों से उसकी ओर देखा -

इति द्विजातौ प्रतिकूलवादिनि,

प्रवेपमानाधरलक्ष्यकोपया ।

विकुञ्चितभ्रूलतमाहिते तया,

विलोचने तिर्यगुपान्तलोहिते ॥ 74 ॥

अन्वयः—इति द्विजातौ प्रतिकूलवादिनि (सति) प्रवेपमानाधरलक्ष्यकोपया तया उपान्तलोहिते विलोचने विकुञ्चितभ्रूलतं तिर्यक् आहिते ।

सञ्जीविनी टीकाः—इतीति ॥ इति एवं प्रकारेण द्विजातौ द्विजे प्रतिकूलवादिनि सति । प्रवेपमानाधरलक्ष्यकोपया प्रवेपमानेन चञ्चलेनाधरोष्ठेन लक्ष्यः अनुमेयः कोपः क्रोधो यस्यस्तथोक्तया तया पार्वत्या उपान्तलोहिते प्रान्तरक्ते विलोचने । विकुञ्चितभ्रूलते विकुञ्चिते कुटिलिते भ्रूलते यस्मिंस्तत्तथा । सभ्रूभङ्गमित्यर्थः । तिर्यक्साच्याहिते निहिते । अनादरात्तिर्यगैक्ष्यतेत्यर्थः ।

शब्दार्थः—इति = इस प्रकार, द्विजातौ = ब्राह्मण के, प्रतिकूलवादिनि = विरुद्ध कहने पर; प्रवेपमानाधरलक्ष्यकोपया = काँपते हुए होंठों से जिसका क्रोध प्रकट हो रहा था, तया = उस(पार्वती) ने, उपान्तलोहिते = कोनों में लाल, विलोचने = आँखों को, विकुञ्चितभ्रूलतम् = भौंहों को टेढ़ा करके, तिर्यक् = तिरछा, आहिते = किया ।

अनुवादः—ब्रह्मचारी के इस प्रकार विपरीत बोलने पर निचले ओष्ठ के काँपने से जिसका क्रोध प्रकट हो रहा था ऐसी उस(पार्वती) के द्वारा लाल नेत्रों के प्रान्त भाग से भौंहों को टेढ़ा करके तिरछी दृष्टि डाली गई ।

Eng. Trans.:—By her, whose anger could be guessed from her quivering nether lip, were cast askance upon the twice-born, talking adversely, her eyes, red at the corners, with her creeper-like brows contracted in a frown.

व्याख्याः—ब्रह्मचारी शंकर के द्वारा तपस्विनी पार्वती के सामने शिव की अनेक प्रकार से बुराई करने पर क्रोधाविष्ट हुई पार्वती का वर्णन करते हुए कवि कह रहे हैं कि अनेक दोषों से युक्त होने पर भी शिव पार्वती को अनन्य रूप से अभीष्ट थे अतः शिव की निन्दा सुनने के लिए पार्वती किसी भी दशा में तत्पर न थीं किन्तु ब्रह्मचारी बराबर उनकी निन्दा करने में ही संलग्न था । और अत्यधिक क्रोध में मनुष्य के ओष्ठ कम्पन करने लगते हैं तथा पार्वती शिव की निन्दा नहीं

सुन सकती थीं, अतः पार्वती का क्रोध बराबर बढ़ता ही चला गया। परिणाम यह हुआ कि जब उन्होंने कुछ कहना चाहा तब उनके ओष्ठ कम्पन करने लगे, उनकी आँखें लाल हो गईं और उन्होंने भौंहे तानकर उस ब्रह्मचारी की ओर आँखें तिरछी करके देखा।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धि:-तिर्यगुपान्तलोहिते = तिर्यक् + उपान्तलोहिते।

समास:-द्विजातौ = द्वे जाती यस्य सः द्विजातिः (बहु०) तस्मिन्; प्रतिकूलवादिनि = कूलं प्रतिगतं प्रतिकूलम् (प्रादि स०), प्रतिकूलं वदतीति प्रतिकूलवादी (उपपद स०) तस्मिन्; प्रवेपमानाधरलक्ष्यकोपया = प्रवेपमानश्च असौ अधरः (कर्म०), तेन लक्ष्यः (तृ०त०), तादृशः कोपः यस्याः सा (बहु०)तया; उपान्तलोहिते = अन्तस्य समीपम् उपान्तम् (अव्ययी०), उपान्तयोः लोहिते (सुप्सुपा स०); विकुञ्चितभ्रूलतम् = भ्रुवो लते इव भ्रूलते (उपमित त०), विकुञ्चिता भ्रूलता यस्मिन् तत् (बहु०); तिर्यक् = तिरः अञ्चति इति तिर्यक् (उपपद स०)।

पदपरिचय:-प्रतिकूलवादिनि = प्रतिकूल + √वद् + णिनि स०वि०एक०; प्रवेपमान = प्र + √वेप् + शानच्; लक्ष्य = √लक्ष् + णिच् + यत्; कोपया = √कुप् + घञ् तृ०वि०एक०; तिर्यक् = तिरस् + √अञ्च् + क्विप् प्र०वि०एक०; आहिते = आ+√धा+क्त प्र०वि०एक०।

अलंकार:-स्वभावोक्ति

छन्द:-वंशस्थ।



75. प्रसंग:-पार्वती उस ब्रह्मचारी से बोलीं-

उवाच चैनं परमार्थतो हरं,

न वेत्सि नूनं यत एवमात्थ माम्।

अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं

द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्॥75॥

अन्वय:-एनम् उवाच च, त्वं परमार्थतः हरं न वेत्सि नूनं, यतः माम् एवम् आत्थ। मन्दाः अलोकसामान्यं अचिन्त्यहेतुकं महात्मनां चरितं द्विषन्ति।

सञ्जीविनी टीका:—उवाचेति ।। अथ एनं ब्रह्मचारिणम् उवाच च । किमिति । परमार्थतः तत्त्वतः हरं न वेत्सि न जानासि नूनम् । कुतः । यतः माम् एवम् उक्तया रीत्या आत्थ ब्रवीषि । 'ब्रुवः पञ्चानामादितः' —इति रूपसिद्धिः । अज्ञानादेवायं शिवद्वेषस्तवेत्याशयेनाह —मन्दाः मूढाः । 'मूढाल्पापटुनिर्भाग्या मन्दाः' इत्यमरः । लोकसामान्यमितरजनसाधारणं न भवति इति अलोकसामान्यम् अचिन्त्यहेतुकं दुर्बोधकारणकं महात्मनां चरितं द्विषन्ति हेत्वपरिज्ञानाद् दूषयन्ति । विद्वांसस्तु कोऽप्यत्र हेतुरस्तीति बहु मन्यन्त इत्यर्थः ।

शब्दार्थः—एनम् = इससे, उवाच = कहा, त्वम् = तुम, परमार्थतः = वास्तव में, हरम् = शिव को, न = नहीं, वेत्सि = जानते, नूनम् = निश्चय ही, यतः क्योंकि, माम् = मुझको, एवम् = इस प्रकार, आत्थ = कहते हो, मन्दाः = मूर्ख लोग, अलोकसामान्यम् = अलौकिक, अचिन्त्यहेतुकम् = दुर्बोध कारण वाले, महात्मनाम् = महात्माओं के, चरितम् = चरित्र से, द्विषन्ति = द्वेष करते हैं ।

अनुवादः—(पार्वती) इससे बोलीं—वास्तव में (तुम) शिव को नहीं जानते हो, इसलिए मुझसे इस प्रकार कह रहे हो । मूर्ख लोग दुर्बोध कारण वाले महापुरुषों के असाधारण चरित्र से द्वेष करते हैं ।

Eng. Trans.—And him she thus addressed:—"Indeed, thou dost not know Śiva aright, since thou talkest thus to me. The dull-witted find fault with the course of life of the magnanimous, which is not in common with that of other people, and the motive of which is difficult to divine."

व्याख्या:—पार्वती ब्रह्मचारी से भगवान् शिव की बुराई सुनकर उसे उत्तर देते हुए कहती हैं कि हे ब्रह्मचारी ! तुम यथार्थ रूप में शिव को नहीं जानते हो इसी कारण उनके चरित्र की निन्दा करते हो क्योंकि संसार में प्रायः यह देखा जाता है कि तुम्हारे समान मूर्ख पुरुष महापुरुषों के असाधारण चरित्र को वास्तविक रूप में नहीं जान पाते हैं और इसलिए वे उनकी निन्दा करते हैं । पार्वती के कहने का भाव यह है कि ब्रह्मचारी यह नहीं जान सकता है कि शिवजी के नग्न रहने का क्या कारण है तथा वे श्मशान में निवास क्यों करते हैं? आदि ।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:—

सन्धि:—चैनं = च + एनम्; यत एवमात्थ = यतः + एवम् + आत्थ, मन्दाश्चरितं = मन्दाः + चरितम् ।

समासः—परमार्थतः = परमश्चासौ अर्थः परमार्थः (कर्म०) तस्मात्;
अलोकसामान्यम् = समानस्य भावः सामान्यम् (ष०त०), लोकानां सामान्यम्
(ष०त०), न लोकसामान्यम् (नञ् त०); अचिन्त्यहेतुकम् = न चिन्त्यः अचिन्त्यः
(नञ् त०), अचिन्त्यः हेतुः यस्य तत् (बहु०); महात्मनाम् = महान् आत्मा येषां
ते महात्मनः (बहु०) तेषाम्।

पदपरिचयः—उवाच = √वच् लिट् ल०प्र०पु०एक०; वेत्सि = √विद् लट्
ल०म०पु०एक०; आत्थ = √ब्रू लट् ल०म०पु०एक०; अचिन्त्य = नञ् + √चिन्त्
+ णिच् + यत्; द्विषन्ति = √द्विष् लट् ल०प्र०पु०बहु०।

अलंकारः—अर्थान्तरन्यास

छन्दः—वंशशस्थ।



76. प्रसंगः—ब्रह्मचारी द्वारा 'अमंगलाभ्यासरतिम्' इत्यादि शिव के विषय
में कहा गया था, उसी के उत्तर में पार्वती कहती हैं—

विपत्प्रतीकारपरेण मङ्गलं,

निषेव्यते भूतिसमुत्सुकेन वा।

जगच्छरण्यस्य निराशिषः सतः,

किमेभिराशोपहतात्मवृत्तिभिः ॥ 76 ॥

अन्वयः—विपत्प्रतीकारपरेण भूतिसमुत्सुकेन वा मङ्गलं निषेव्यते।
जगच्छरण्यस्य निराशिषः सतः आशोपहतात्मवृत्तिभिः एभिः किम्?।

सङ्गीविनी टीकाः—विपदिति ॥ विपत्प्रतिकारपरेण। अनर्थपरिहारार्थिनेत्यर्थः।
'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' इति दीर्घः। भूतिसमुत्सुकेन ऐश्वर्यकामेन वा
मङ्गलं गन्धमाल्यादिकं निषेव्यते। शरणे रक्षणे साधुः शरण्यः। 'तत्र साधुः' इति
यत्प्रत्ययः। 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः। जगतः शरण्यस्तस्य जगच्छरण्यस्य
निराशिषः निरभिलाषस्य सतः शिवस्य। 'आशीरुगदंष्ट्रायां विप्रवाक्याभिलाषयोः।'।
इति शाश्वतः। आशोपहतात्मवृत्तिभिः आशया तृष्णयोपहता दूषितात्मवृत्तिरन्तः
करणवृत्तिर्येषां तैः एभिः मङ्गलैः किम्। वृथेत्यर्थः। पूर्वं मङ्गलमित्येकवचनस्य
जात्यभिप्रायत्वादेभिरिति बहुवचनेन परामर्शो न विरुध्यते। इष्टवाप्त्य-
निष्टपरिहारार्थिनो हि मङ्गलाचारनिबन्धः। तदुभयासंसृष्टस्य तु यथाकर्तव्यं चिदास्ताम्।
को दोष इत्यर्थः। एतेन 'अमङ्गलाभ्यासरतिम्' (5-65) इत्युक्तं प्रत्युक्तम्।

शब्दार्थः—विपत्प्रतीकारपरेण = विपत्ति का निवारण करने में लगे हुए, भूतिसमुत्सुकेन = ऐश्वर्य की इच्छा करने वाले के द्वारा, वा = अथवा, मंगलम् = शुभ वस्तु का, निषेव्यते = सेवन किया जाता है, जगच्छरण्यस्य = संसार के रक्षक, निराशिशः = इच्छा रहित, सतः = शिव का, आशोपहतात्मवृत्तिभिः = तृष्णा से चित्त को कलुषित करने वाले, एभिः = इन (मंगलों) से, किम् = क्या (प्रयोजन)।

अनुवादः—विपत्ति का निवारण करने में संलग्न अथवा ऐश्वर्य की इच्छा करने वाले के द्वारा मांगलिक (पदार्थ) का सेवन किया जाता है। संसार की रक्षा करने में समर्थ और इच्छा रहित (शिव) का इन तृष्णा के कारण दूषित कर दी गई अन्तःकरण की वृत्तियों से क्या (प्रयोजन)?

Eng. Trans.—Auspicious things are resorted to by one, who is anxious to ward off calamities or to attain prosperity. What has he, who is the protector of the world and has nothing to wish for, to do with these, which corrupt the functions of the soul by generating desires?

व्याख्या—ब्रह्मचारी के द्वारा भगवान् शंकर के विषय में बताए गए अनेक अवगुणों का परिहार करते हुए देवी पार्वती ब्रह्मचारी से कह रही हैं कि हे सज्जन! विपत्ति में पड़ा हुआ मनुष्य विपत्ति के निवारण के लिए तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति की कामना रखने वाला व्यक्ति मंगलप्रद वस्तुओं का सेवन करते हैं। शिव तो कभी विपत्ति से ग्रसित होते ही नहीं। वह तो इतनी अधिक शक्ति से युक्त हैं कि वे अकेले ही सम्पूर्ण लोकों की रक्षा करने में समर्थ हैं। उन्हें ऐश्वर्य प्राप्ति की भी अभिलाषा नहीं है क्योंकि वे तो पूर्णतया निष्काम हैं अतः इन मंगलप्रद वस्तुओं के प्रयोग से उनका क्या प्रयोजन? अर्थात् ये सब तो उनके लिए निरर्थक ही हैं। पार्वती के कहने का तात्पर्य यह है कि मंगल का आचरण मनुष्य दो चीजों के लिए करते हैं—एक तो वर्तमान या भावी विपत्ति के प्रतिकार के लिए और दूसरे समृद्धि की प्राप्ति के लिए। शिव तो त्रिलोक के शरण हैं और निरीह हैं, अतः उन्हें मंगल सेवन की आवश्यकता ही नहीं है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

समासः—विपत्प्रतीकारपरेण = विपदः प्रतीकारः (ष०त०) विपत्प्रतीकारः एव परं प्रधानं यस्य सः (बहु०) तेन; भूतिसमुत्सुकेन = भूत्यां भूतौ वा समुत्सुकः

(ष० या सं०त०) तेन; जगच्छरण्यस्य = शरणे साधुः शरण्यः (सं०त०), जगतां शरण्यः (ष०त०) तस्य; निराशिषः = निर्गता आशीः यस्य सः निराशीः (बहु०) तस्य; आशोपहतात्मवृत्तिभिः = आत्मनः वृत्तिः आत्मवृत्तिः (ष०त०), आशया उपहता आशोपहता (तृ०त०), आशोपहता आत्मवृत्तिः येषां ते (बहु०) तैः।

पदपरिचयः—प्रतीकार = प्रति + √कृ + घञ्; निषेव्यते = नि + √सेव् कर्म० लट् ल०प्र०पु०एक०; शरण्यस्य = शरण + यत् ष०वि०एक०; निराशिषः = निरु + आ + √शास् + क्विप् ष० वि० एक०; सतः = √अस् + शतृ ष०वि०एक०; उपहत = उप + √हन् + क्त।

अलंकारः—परिकर

छन्दः—वंशस्थ।



77. प्रसंगः—शिव में परस्पर विरोधी गुण निवास करते हैं—

अकिंचनः सन् प्रभवः स संपदां,

त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः।

स भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते,

न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः॥ 77॥

अन्वयः—स अकिञ्चनः सन् सम्पदां प्रभवः, पितृसद्मगोचरः त्रिलोकनाथः सः भीमरूपः सन् शिवः इति उदीर्यते। पिनाकिनः याथार्थ्यविदः न सन्ति।

सञ्जीविनी टीकाः—अकिंचन इति॥ स हरः। न विद्यते किंचन द्रव्यं यस्य सः अकिंचनः दरिद्रः सन् संपदां प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणम्। पितृसद्मगोचरः श्मशानाश्रयः सन्। त्रिलोकनाथः त्रयाणां लोकानां नाथः। 'तद्धितार्थ' — इत्यादिनोत्तरपदसमासः। स देवो भीमरूपः भयंकराकारः सन् शिवः सौम्यरूप इति उदीर्यते उच्यते। अतः पिनाकिनः हरस्य याथार्थ्यविदः यथाभूतोऽर्थो यथार्थस्तस्य भावो याथार्थ्यं तत्त्वं तस्य विदः न सन्ति। लोकोत्तरमहिम्ना निर्लेपस्य यथाकथंचिदवस्थानं न दोषायेति भावः। एतेन 'अवस्तुनिर्बन्धपरे' (5-66) इति परिहृतं वेदितव्यम्।

शब्दार्थः—सः = वह, अकिञ्चनः = निर्धन, सन् = होकर, सम्पदाम् = सम्पत्तियों का, प्रभवः = कारण है, पितृसद्मगोचरः = श्मशान में रहता हुआ, त्रिलोकनाथः = तीनों लोकों का स्वामी है, भीमरूपः = भयंकर रूप वाला, शिवः

= कल्याणकारी, इति = इस प्रकार, उदीर्यते = कहलाता है, पिनाकिनः = शिव की, याथार्थ्यविदः = यथार्थता को जानने वाले, न = नहीं, सन्ति = हैं।

अनुवादः—वह(शिव) दरिद्र होते हुए भी सम्पत्तियों का कारण है, श्मशाननिवासी होने पर भी वह तीनों लोकों का स्वामी है, भयंकर आकृति वाला होने पर शिव कहा जाता है, शिव के वास्तविक स्वरूप को जानने वाले नहीं हैं।

Eng. Trans.:—Himself poor, he is the spring of wealth; living (*lit.* found) in the cremation-ground (*lit.* the abode of the dead), he is the lord of the three worlds; being of terrible form, he is (still) called Śiva (*lit.* of gentle aspect). None are there who know the Trident-holder for what he really is.

व्याख्याः—तपस्विनी पार्वती ब्रह्मचारी से भगवान् शिव की महत्ता बताते हुए कहती है कि हे सज्जन! वह शिव अनेक परस्पर विरोधी गुणों से युक्त है। वह दरिद्र होते हुए भी सम्पत्तियों का उत्पत्तिस्थान है, श्मशानवासी होने पर भी तीनों लोकों का स्वामी है तथा भयंकर आकृति से सम्पन्न होने पर भी वह कल्याणकारी है ऐसे परस्पर विरोधी गुणों से युक्त उस शिव का ज्ञाता कोई विरला ही हो सकता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणीः—

सन्धिः—स सम्पदां = सः + सम्पदाम्; स भीमरूपः = सः + भीमरूपः; शिव इत्युदीर्यते = शिवः + इति + उदीर्यते।

समासः—अकिञ्चनः = नास्ति किञ्चन यस्य सः(बहु०); पितृसद्वगोचरः = पितृणां सद्य (ष०त०), पितृसद्य गोचरः यस्य सः (बहु०); त्रिलोकनाथः = त्रीणि लोकः इति त्रिलोकः (कर्म०), त्रिलोकस्य नाथः (ष०त०); भीमरूपः = बिभेति अस्मात् इति भीमम् (प०त०), भीमं रूपं यस्य सः (बहु०); पिनाकिनः = पिनाकः अस्यास्तीति (बहु०); याथार्थ्यविदः = यथाभूता अर्थः यथार्थः (प्रादि स०), यथार्थस्य भावः याथार्थ्यम् (ष०त०), याथार्थ्यं विदन्ति इति (उपपद स०)।

पदपरिचयः—सन् = √अस् + शतृ प्र०वि०एक०; सम्पदाम् = सम् + √पद् + क्विप् ष०वि०बहु०; प्रभवः = प्र + √भू + अप् प्र०वि०एक०; उदीर्यते = उत् + ईर् + णिच् लट् ल०प्र०पु०एक०; पिनाकिनः = पिनाक + इनि ष०वि०एक०;

याथार्थ्यविदः = यथार्थ + ष्यञ् + √विद् + क्विप् प्र०वि०बहु०; सन्ति = √अस्
लट् ल०प्र०पु०बहु० ।

अलंकारः—विरोधाभास

छन्दः—वंशस्थ ।



78. प्रसंगः—शिव का वास्तविक स्वरूप उनके आकारादि के द्वारा नहीं
जाना जा सकता है —

विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा,

गजाजिनालम्बि दूकूलधारि वा ।

कपालि वा स्यादथवेन्दुशेखरं,

न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः ॥ 78 ॥

अन्वयः—विश्वमूर्तेः वपुः विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा, गजाजिनालम्बि
दूकूलधारि वा, कपालि वा अथवा इन्दुशेखरं स्यात्, इति न अवधार्यते ।

सङ्गीविनी टीकाः—विभूषणेति ॥ विश्वं मूर्तिर्यस्येति विश्वमूर्तेः अष्टमूर्तेः
शिवस्य वपुः शरीरं भूषणैरुद्भासत इति विभूषणोद्भासि स्यात् । पिनद्धभोगि
आमुक्तभुजंगमं वा स्यात् । पिनद्धेति नह्यतेरपिपूर्वात्कर्मणि क्तः । 'वष्टि
भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इत्यकारलोपः । गजाजिनालम्बि स्यात् । अथवा
दूकूलधारि स्यात् । कपालमस्यास्तीति कपालि ब्रह्मशिरःकपालशेखरं वा स्यात् ।
अथ इन्दुशेखरं वा स्यात् । न अवधार्यते न निर्धार्यते । सर्वं संभवतीत्यर्थः । एतेन
'त्वमेव तावत् (5-67)' श्लोकोक्तं प्रयुक्तमिति ज्ञेयम् ।

शब्दार्थः—विश्वमूर्तेः = शिव का, वपुः = शरीर, विभूषणोद्भासि = आभूषणों
से चमकता है, पिनद्धभोगि = साँपों से लिपट हुआ है, वा = अथवा, गजाजिनालम्बि
= हाथी के चमड़े से आच्छादित है, दूकूलधारि = रेशमी वस्त्र धारण किए हुए है,
कपालि = (सिर में) कपाल धारण किए हुए है, इन्दुशेखरम् = चन्द्रमा की कला,
न = नहीं, अवधार्यते = ज्ञात होता ।

अनुवादः—विश्व ही है रूप जिसका ऐसे शिव का शरीर आभूषणों से
चमकने वाला हो अथवा साँपों से लिपट हुआ हो, हस्तिचर्म धारण किए हो,
अथवा रेशमी वस्त्र, (सिर में) कपाल धारण किए हो अथवा चन्द्रमा, यह
निश्चय नहीं किया जा सकता ।

Eng. Trans.:—The shape of him whose form is the universe cannot be determined: it may be resplendent with ornaments or entwined with serpents, or it may be dressed in elephant-hide or in silken garments, or it may have one its crest a vessel of skull or the moon.

व्याख्या:—तपस्विनी पार्वती शिव के शरीर के सम्बन्ध में ब्रह्मचारी के वेष में उसके पास आए हुए शिव से कह रही हैं कि हे सज्जन! अष्टमूर्ति भगवान् शिव का शरीर कैसा है—यह निश्चय किया जाना सम्भव नहीं है। उनका शरीर आभूषणों से सुशोभित है अथवा सर्पों से ढका है। वह गजचर्म धारण किए हुए है अथवा रेशमी वस्त्र। वह नरमुण्डों से युक्त है अथवा अपने सिर पर चन्द्रमा को धारण किए हुए हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:—

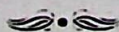
सन्धि:—स्यादथवेन्दुशेखरं = स्यात् + अथवा + इन्दुशेखरम्; विश्वमूर्तेरवधार्यते = विश्वमूर्तेः + अवधार्यते।

समास:—विश्वमूर्तेः = विश्वं मूर्तिः यस्य सः (बहु०) तस्य; विभूषणोद्भासि = विभूषणैः उद्भासते तच्छीलम् (तृ०त०); पिनद्धभोगि = पिनद्धाः भोगिनः यस्मिन् तत् (बहु०); गजाजिनालम्बि = गजस्य अजिनम् गजाजिनम् (ष०त०), गजाजिनम् आलम्बते इति (उपपद स०); दुकूलधारि = दुकूलं धारयति इति (उपपद स०); इन्दुशेखरम् = इन्दु शेखरे यस्य सः (बहु०) तम्।

पदपरिचय:—विभूषणोद्भासि = वि + √भूष् + ल्युट् + उद् + √भास् + णिनि प्र०वि०एक०; पिनद्धभोगि = अपि + √नह् + क्त + भोग + इनि प्र०वि०एक०; गजाजिनालम्बि = गजाजिन + आ + √लम्ब् + णिनि प्र०वि०एक०; दुकूलधारि = दुकूल + √धृ + णिनि प्र०वि०एक०; कपालि = कपाल + इनि प्र०वि०एक०; स्यात् = √अस् विधि० ल०प्र०पु०एक०; अवधार्यते = अव + √धृ + णिच् कर्म० लट् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकार:—परिकर

छन्द:—वंशस्थ।



79. प्रसंग:—अब पार्वती ब्रह्मचारी द्वारा लगाए गए आरोपों का उत्तर देती हुई कहती हैं—

तदङ्गसंसर्गमवाप्य कल्पते,

ध्रुवं चिताभस्मरजो विशुद्धये।

तथाहि नृत्याभिनयक्रियाच्युतं,

विलिप्यते मौलिभिरम्बरौकसाम् ॥ 79 ॥

अन्वयः—तदङ्गसंसर्गम् अवाप्य चिताभस्मरजः विशुद्धये कल्पते ध्रुवं, तथा हि नृत्याभिनयक्रियाच्युतं अम्बरौकसां मौलिभिः विलिप्यते।

सञ्जीविनी टीकाः—तदङ्गेति ॥ तदङ्गसंसर्गम् तस्य शिवस्यांगं तस्य संसर्गम् अवाप्य आसाद्य चिताभस्मरजः चिताभस्मैव रजोविशुद्धये कल्पते। अलं पर्याप्नोतीत्यर्थः। अलमर्थयोगात् 'नमः स्वस्तिस्वाहा-' इत्यादिना चतुर्थी। ध्रुवं शोधकत्वं प्रमाणसिद्धमित्यर्थः। प्रमाणमेवाह—तथा हि। प्रसिद्धमेवेत्यर्थः। नृत्याभिनयक्रियाच्युतं। नृत्ये ताण्डवे योऽभिनयोऽर्थव्यञ्जकचेष्ट्याविशेषः स एव क्रिया तथा निमित्तेन च्युतं पतितम्। चिताभस्मरजः इति शेषः। अम्बरौकसां देवानां मौलिभिः विलिप्यते ध्रियते। अशुद्धं चेत्कथमिन्द्रादिभिर्ध्रियेतेत्यर्थापत्तिरनुमानं वा प्रमाणमित्यर्थः।

शब्दार्थः—तदङ्गसंसर्गम् = उस(शिव) के शरीर के स्पर्श को, अवाप्य = प्राप्त करके, चिताभस्मरजः = चिता की राख, विशुद्धये = पवित्र करने में, कल्पते = समर्थ हो जाती है, ध्रुवम् = निश्चय ही, तथाहि = इसी कारण, नृत्याभिनयक्रियाच्युतम् = नृत्य अभिनय के समय गिरी हुई, अम्बरौकसाम् = देवताओं के, मौलिभिः = सिरों से, विलिप्यते = लगाई जाती हैं।

अनुवादः—उन (शिव) के शरीर का स्पर्श पाकर चिता की राख भी निश्चय ही पवित्र करने में समर्थ हो जाती है। इसी कारण उनके नृत्य अभिनय के समय गिरी हुई (धूलि को) देवतागण अपने मस्तकों पर लगाते हैं।

Eng. Trans.:—Certainly the particles of the ashes of the funeral pyre become sanctifying by having obtained a touch of his body; and hence they are rubbed on their heads by the dwellers of heaven (i.e. gods) when (they are) dropped down in the act of exhibiting the gestures of dancing.

व्याख्याः—तपस्विनी पार्वती ब्रह्मचारी से शिव की प्रशंसा करती हुई कह रही हैं कि हे सज्जन! शिवजी का शरीर इतना अधिक पवित्र है कि उसके सम्पर्क

से नितान्त अपवित्र चिता की राख भी स्वयं पवित्र होकर दूसरों को भी पवित्र करने में समर्थ हो जाती है। यही कारण है कि ताण्डव नृत्य करते समय जब शिवजी अभिनय करते हैं तो उस समय उनके शरीर में लगी हुई चिता की राख नीचे गिर पड़ती है जिसको देवगण उठाकर अपने मस्तक पर लगाते हैं और अपने को पवित्र करते हैं। इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिव का शरीर कितना पवित्र है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धिः-चिताभस्मरजो विशुद्ध्ये = चिताभस्मरजः + विशुद्ध्ये; मौलिभि-
रम्बरौकसाम् = मौलिभिः + अम्बरौकसाम्।

समासः-तदङ्गसंसर्गम् = तस्य अङ्गं तदङ्गम् (ष०त०), तस्य संसर्गः
(ष०त०)तम्; चिताभस्मरजः = चितायाः भस्म चिताभस्म (ष०त०), तदेव रजः
(कर्म०); नृत्याभिनयक्रियाच्युतम् = नृत्ये अभिनयः नृत्याभिनयः (सुप्सुपा स०),
तस्य क्रिया (ष०त०), तस्याः च्युतम् (सुप्सुपा स०); अम्बरौकसाम् = अम्बर
ओकः येषां ते (बहु०) तेषाम्।

पदपरिचयः-अवाप्य = अव + √आप् + ल्यप्; विशुद्ध्ये = वि + √शुध्
+ क्तिन् च०वि०एक०; कल्पते = √क्लृप् लट् ल०प्र०पु०एक०; अभिनय =
अभि + √नी + अच्; विलिप्यते = वि + √लिप् कर्म० लट् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकारः-उल्लास

छन्दः-वंशस्थ।



80. प्रसंगः-अब ब्रह्मचारी द्वारा कही गई बातों का उत्तर पार्वती दे रही हैं-

असंपदस्तस्य वृषेण गच्छतः,

प्रभिन्नदिग्वारणवाहनो वृषा।

करोति पादावुपगम्य मौलिना,

विनिद्रमन्दाररजोरुणाङ्गुली ॥ 80 ॥

अन्वयः-प्रभिन्नदिग्वारणवाहनः वृषा असम्पदः वृषेण गच्छतः तस्य पादौ
मौलिना उपगम्य विनिद्रमन्दाररजोरुणाङ्गुली करोति।

सञ्जीविनी टीकाः-असंपद इति ॥ प्रभिन्नदिग्वारणवाहनः प्रभिन्नो मदस्त्रावी

दिग्वारणो दिग्गजो वाहनं यस्य सः। ऐरावतेनोढ इत्यर्थः। वृषा देवेन्द्रः असंपदः दरिद्रस्य वृषेण गच्छतः वृषाभारूढस्य तस्य ईश्वरस्य पादौ मौलिना मुकुटेन उपगम्य प्रणम्येत्यर्थः। विनिद्रमन्दाररजोऽरुणाङ्गुली विनिद्राणां विकसितानां मन्दाराणां कल्पतरुकुसुमानां रजोभिः परागैररुणा अङ्गुलयो ययोस्तौ तथोक्तौ करोति। दिग्गजारोहिणामिन्द्रादीनामपि वन्द्यस्येन्दुमौलैः किं संपदा, वृषारोहणे वा को दोषः इत्यर्थः।

शब्दार्थः—प्रभिन्नदिग्वारणवाहनः = मद को बहाने वाले श्रेष्ठ हाथी पर आरूढ, वृषा = इन्द्र, असम्पदः = दरिद्र, वृषेण = बैल पर, गच्छतः = चढ़ने वाले, तस्य = उन (शिव) के, पादौ = पैरों को, मौलिना = मस्तक से, उपगम्य = स्पर्श करके, विनिद्रमन्दाररजोऽरुणाङ्गुली = खिले हुए मन्दार पुष्पों की धूल से लाल अङ्गुलियों वाला, करोति = करता है।

अनुवादः—मदमस्त श्रेष्ठ हाथी (ऐरावत) पर चढ़ने वाला इन्द्र दरिद्र तथा बैल पर जाते हुए उस (शिव) के चरणों को अपने मस्तक से स्पर्श करके विकसित मन्दार (कल्प) वृक्ष के पुष्पों के पराग से लाल अङ्गुली वाला कर देता है।

Eng. Trans.—Indra, having for his vehicle the rutting elephant of the (eastern) quarter, touches, with his crest, the feet of that wealthless God who goes about on a bull, and makes their toes red with the pollen-dust of the full-blown flowers of the heavenly trees.

व्याख्या—तपस्विनी पार्वती ब्रह्मचारी से शिव की महिमा बताते हुए कह रही हैं कि हे सज्जन! देवराज इन्द्र ऐरावत हाथी की सवारी करते हैं और अपने मस्तक पर लगे हुए मुकुट में मन्दारवृक्ष अर्थात् कल्पवृक्ष के खिले हुए फूलों को धारण करते हैं। ऐसे इन्द्र जब शिवजी के चरणों में नतमस्तक होकर प्रणाम करते हैं तब उस समय विकसित मन्दार-पुष्पों की लालिमा से शिवजी के पैरों की अङ्गुलियाँ भी लाल हो जाती हैं। पार्वती के कहने का अभिप्राय यह है कि जब ऐरावत की सवारी करने वाला देवताओं का राजा इन्द्र भी दरिद्र और बैल की सवारी करने वाले शिव के चरणों में आकर झुकता है तो इन्द्रादि देवताओं की अपेक्षा शिव की श्रेष्ठता स्वयं सिद्ध हो जाती है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धिः-असम्पदस्तस्य = असम्पदः + तस्य; पादावुपगम्य = पादौ + उपगम्य ।

समासः-प्रभिन्नदिग्वारणवाहनः = दिशां दिशि वा वारणः दिग्वारणः (ष०या सं०त०), प्रभिन्नः दिग्वारणः (कर्म०), प्रभिन्नदिग्वारणः वाहनं यस्य सः (बहु०); असम्पदः = अविद्यमाना सम्पद् यस्य सः (बहु०); विनिद्रमन्दाररजोऽरुणाङ्गुली = विगता निद्रा यस्य सः इति विनिद्रः (बहु०), विनिद्राणि च तानि मन्दाराणि इति विनिद्रमन्दाराणि (कर्म०), तेषां रजांसि (ष०त०), तैः अरुणः विनिद्रमन्दाररजोऽरुणाः (तृ०त०), तादृश्यः अङ्गुलयः ययोः तौ (बहु०) ।

पदपरिचयः-प्रभिन्न = प्र + √भिद् + क्त; वाहन = √वह + ल्युट्; असम्पदः = नञ् + सम् + √पद् + क्विप् ष०वि०एक०; गच्छतः = √गम् + शतृ ष०वि०एक०; उपगम्य = उप + √गम् + ल्यप्; करोति = √कृ लट् ल०प्र०पु०एक० ।

अलंकारः-पर्यायोक्त

छन्दः-वंशस्थ ।



81. प्रसंगः-ब्रह्मचारी ने शिव के कुलीन होने तथा कुल का पता ज्ञात न होने के बारे में सन्देह प्रकट किया था । इसका उत्तर देते हुए पार्वती कह रही हैं -

विवक्षता दोषमपि च्युतात्मना,

त्वयैकमीशं प्रति साधु भाषितम् ।

यमामनन्त्यात्मभवोऽपि कारणं,

कथं स लक्ष्यप्रभवो भविष्यति ॥ 81 ॥

अन्वयः-दोषं विवक्षता अपि च्युतात्मना त्वया ईशं प्रति एकं साधु भाषितम् यम् आत्मभुवः अपि कारणम् आमनन्ति, स कथं लक्ष्यप्रभवः भविष्यति ।

सङ्गीविनी टीका:-विवक्षतेति ॥ च्युतात्मना नष्टस्वभावेनात एव दोषं दूषणं विवक्षता वक्तुमिच्छता अपि त्वया ईशं प्रति एकम् अलक्ष्यजन्मता इत्येतदेकम् । वच इत्यर्थः । साधु भाषितं सम्यगुक्तम् । कुतः । यम् ईश्वरम् आत्मभुवः अपि ब्रह्मणोऽपि । 'ब्रह्मात्मभूः सुरज्येष्ठः' इत्यमरः । कारणम् आमनन्ति उदाहरन्ति । विद्वांस इति शेषः । 'पात्राध्यास्थाम्नादाण्-' इत्यादिना मनादेशः । सः ईश्वरः कथं लक्ष्यप्रभवः लक्ष्यजन्मा भविष्यति । अनादिनिधनस्य भगवतः कारणशङ्का कलङ्कश्च नान्विष्यत इत्यर्थः ।

शब्दार्थः—दोषम् = दोष को, विवक्षता = कहने के इच्छुक, अपि = भी, च्युतात्मना = पतित आत्मा वाले, त्वया = तुम्हारे द्वारा, ईशम् = शिव के, प्रति = विषय में, एकम् = एक बात, साधु = ठीक, भाषितम् = कह दी गई, यम् = जिसको, आत्मभुवः = ब्रह्मा का, अपि = भी, कारणम् = कारण, आमनन्ति = कहते हैं, सः = वह, कथम् = कैसे, लक्ष्यप्रभवः = जिसकी उत्पत्ति ज्ञात हो सकती है, भविष्यति = होगा।

अनुवादः—केवल दोष कथन करने की इच्छा रखते हुए होने पर भी पतित आत्मा वाले तुम्हारे द्वारा शिव के विषय में एक अच्छी बात कह दी गई, जिसको ब्रह्मा का भी कारण कहते हैं, उस (शिव) का उत्पत्ति स्थान कैसे ज्ञात होगा।

Eng. Trans.—Thus, of depraved soul, although wishing to speak the faults of the lord, hast said one good thing about him. How can he, who is considered the parent of even the self-existent Brahma, have his origin known?

व्याख्या—पार्वती की परीक्षा के निमित्त ब्रह्मचारी के वेष में आए हुए शिव से महादेव के विषय में अनेक प्रकार की बुराई सुनकर पार्वती उसे उत्तर देते हुए कहती हैं कि हे ब्रह्मचारिन्! यद्यपि आपने शिवजी के अनेक दोषों को दिखलाया है किन्तु इन दोषों का वर्णन करते हुए आपने शिव के विषय में एक अच्छी बात कह ही डाली है और वह यह कि 'वेद भी जिन शिव को ब्रह्मा की उत्पत्ति का कारण मानते हैं'। आपकी इस बात से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन शिव से ब्रह्मा की उत्पत्ति का कारण कहा गया है उन शिव की उत्पत्ति के विषय में क्या सोचा जा सकता है अर्थात् कुछ भी नहीं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि—त्वयैकमीशं = त्वया + एकम् + ईशम्; यमामनन्त्यात्मभुवोऽपि = यम् + आमनन्ति + आत्मभुवः + अपि; स लक्ष्यप्रभवो = सः + लक्ष्यप्रभवः।

समास—च्युतात्मना = च्युतः आत्मा यस्य सः च्युतात्मा (बहु०) तेन; आत्मभुवः = आत्मना भवतीति आत्मभूः (उपपद सं०) तस्य; लक्ष्यप्रभवः = लक्ष्यः प्रभवः यस्य सः (बहु०)।

पदपरिचय—विवक्षता = √वच् + सन् + शतृ तृ० वि० एक०; भाषितम् = √भाष् + क्त प्र० वि० एक०; आत्मभुवः = आत्मन् + √भू + क्विप् ष० वि० एक०;

आमनन्ति = आ + √म्ना लट् ल०प्र०पु०बहु०; भविष्यति = √भू लृट् ल०प्र०पु०एक० ।

अलंकारः—वक्रोक्ति

छन्दः—वंशस्थ ।



82. प्रसंगः—अब पार्वती ब्रह्मचारी से कहती है कि मैं निन्दा की चिन्ता नहीं करती । मैं तो एकमना होकर शिव में अनुरक्त हूँ । मुझे लोकनिन्दा की चिन्ता नहीं है —

अलं विवादेन यथा श्रुतस्त्वया,

तथाविधस्तावदशेषमस्तु सः ।

ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं,

न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ॥ 82 ॥

अन्वयः—(अथवा) विवादेन अलं, स त्वया यथा श्रुतः, अशेषं तथाविधः तावत् अस्तु । मम मनः अत्र भावैकरसं स्थितं । कामवृत्तिः वचनीयं न ईक्षते ।

सञ्जीविनी टीकाः—अलमिति ॥ अथवा विवादेन कलहेन अलम् । त्वया तावत् यथा येन प्रकारेण स ईश्वरः श्रुतः अशेषं कात्स्न्येन तथाविधः तावत्प्रकारः एव अस्तु । मम मनः तु अत्र ईश्वरे । भावैकरसं भावः शृंगार एकोऽद्वितीयो रस आस्वाद्यो यस्य तत्तथा स्थितम् । तथा हि । कामवृत्तिः स्वेच्छाव्यवहारी वचनीयम् अस्थानसंगापवादं न ईक्षते न विचारयति । नहि स्वेच्छासंचारिणो लोकापवादादिबभ्यन्तीति भावः ।

शब्दार्थः—विवादेन = वाद-विवाद से, अलम् = बस, सः = उसे, त्वया = तुम्हारे द्वारा, यथा = जैसा, श्रुतः = सुना गया है, अशेषम् = पूर्णरूप से, तथाविधः = वैसा ही, तावदस्तु = हो, मम = मेरा, मनः = मन, अत्र = यहाँ, भावैकरसम् = एकमात्र प्रेम रूपी रस में ही, स्थितम् = लगा हुआ है, कामवृत्तिः = इच्छा के अनुसार कार्य करने वाला व्यक्ति, वचनीयम् = लोक निन्दा को, न = नहीं, ईक्षते = देखता ।

अनुवादः—विवाद से बस, उसे तुम्हारे द्वारा जैसा सुना गया है, (वह तुम्हारे लिए) पूर्णरूपेण वैसा ही हो, मेरा मन यहाँ एकमात्र प्रेम रूपी रस में ही स्थित है । स्वेच्छापूर्वक काम करने वाला व्यक्ति लोकनिन्दा को नहीं देखता है ।

Eng. Trans.:—Enough of disputing; let him be, without any reservation, what you have heard him to be. My heart, however, pervaded by the one sentiment of love, is set on him; one who wants to act as one likes, does not regard (*i.e.* care for) criticism (*i.e.* ill talk).

व्याख्या:—ब्रह्मचारी के द्वारा दिखाए गए शिव के दोषों के सम्बन्ध में उत्तर देने के बाद उस ब्रह्मचारी को कुछ और कहने के लिए इच्छुक देखकर पार्वती कहती हैं कि हे ब्रह्मचारिन्! अधिक विवाद करने से क्या लाभ? आपने उस शिव के बारे में जैसा सुना है, चाहे वह वैसा ही क्यों न हो, मुझे उसकी कोई चिन्ता नहीं है। मेरा मन तो उन्हीं के प्रति पूर्ण निश्चलता के साथ रम गया है अतः मैं उस ओर से अपने मन को हटाने में असमर्थ हूँ। मुझे तो उन्हीं की प्राप्ति करनी है। वैसे भी जो व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार आचरण करता है उसे लोकनिन्दा की कोई चिन्ता नहीं होती है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:—

सन्धि:—श्रुतस्त्वया = श्रुतः + त्वया; तथाविधस्तावदशेषमस्तु = तथाविधः + तावत् + अशेषम् + अस्तु; ममात्र = मम + अत्र।

समास:—विवादेन = विरुद्धो वादः विवादः (प्रादि स०) तेन; तथाविधः = तथा विधा यस्य सः (बहु०); अशेषम् = अविद्यमानः शेषः यस्मिन् तत् (बहु०); भावैकरसम् = एकः रसः एकरसः (कर्म०), भावः एव एकरसः यस्य तत् (बहु०); कामवृत्तिः = कामा वृत्तिः यस्य सः (बहु०)।

पदपरिचय:—विवादेन = वि + √वद् + घञ् तृ० वि० एक०; यथा = यद् + थाल्; श्रुतः = √श्रु + क्त कर्म० प्र० वि० एक०; अशेषम् = नञ् + √शिष् + घञ् कर्म० प्र० वि० एक०; स्थितम् = √स्था + क्त प्र० वि० एक०; कामवृत्तिः = काम + √वृत् + क्त प्र० वि० एक०; वचनीयम् = √वच् + अनीयर् द्वि० वि० एक०; ईक्षते = ईक्ष् लट् ल० प्र० पु० एक०।

अलंकार:—अर्थान्तरन्यास

छन्दः—वंशस्थ।



83. प्रसंगः—अब पार्वती उस ब्रह्मचारी को पुनः कुछ कहने के लिए तत्पर देखकर सखी से कहती है -

निवार्यतामालि किमप्ययं बटुः,

पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः।

न केवलं यो महतोऽपभाषते,

शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्॥ 83 ॥

अन्वयः—हे आलि! स्फुरितोत्तराधरः पुनः किमपि विवक्षुः अयं बटुः निवार्यताम् (तथा हि) यः महतः अपभाषते न केवलं सः एव पापभाक् अपि तु तस्मात् यः शृणोति, सः अपि पापभाक् (भवति)।

सञ्जीविनी टीकाः—निवार्यतामिति ॥ हे आलि सखि! 'आलिः सखी वयस्या च' इत्यमरः। स्फुरितोत्तराधरः स्फुरणभूयिष्ठोष्ठः अयं बटुः माणवकः पुनः किम् अपि विवक्षुः वक्तुमिच्छुः। 'ब्रुवः सन्नन्तादुप्रत्ययः।' निवार्यताम्। तर्हि वक्तुमेव कथं न ददासीत्याह—तथाहि। यः महतः पूज्यान् अपभाषते। अपवदति न केवलं स पापभाक् भवति। किं तु तस्मात् अपभाषमाणात्पुरुषात् यः शृणोति सोऽपि पापभाक्। भवतीति शेषः। अत्र स्मृतिः—'गुरोः प्राप्तः परीवादो न श्रोतव्यः कथंचन। कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः॥ इति।

शब्दार्थः—आलि = हे सखि!, स्फुरितोत्तराधरः = काँपते हुए अधर वाला, पुनः = फिर, किमपि = कुछ, विवक्षुः = कहने के इच्छुक, अयम् = इस, बटुः = ब्रह्मचारी को, निवार्यताम् = हट्य दो, यः = जो, महतः = महापुरुषों की, अपभाषते = निन्दा करता है, न केवलम् = केवल वही नहीं, तस्मात् = उससे, यः = जो, शृणोति = सुनता है, सः = वह, अपि = भी, पापभाक् = पाप का भागी होता है।

अनुवादः—हे सखि! काँपते हुए अधर वाले, पुनः कुछ कहने की इच्छा रखने वाले इस ब्रह्मचारी को रोक दो (क्योंकि) जो महापुरुषों की निन्दा करता है केवल वही नहीं (अपितु) जो उससे सुनता है वह भी पाप का भागी होता है।

Eng. Trans.:—O friend, stop this boy who seems desirous of saying something, as his upper lip is quivering. Not only he who talks ill of the mighty, but also he who listens to him, is a sinner.

व्याख्याः—ब्रह्मचारी को मना करने पर भी कुछ कहने के लिए इच्छुक देखकर पार्वती अपनी सखी से कह रही है कि हे सखि! ऐसा प्रतीत हो रहा है कि यह ब्रह्मचारी उन शिव के विषय में पुनः कुछ कहना चाहता है। अब मेरे लिए

इसकी कोई भी बात सुन सकना सम्भव नहीं हैं। अतः इनसे कह दो कि अब ये कुछ न कहें, क्योंकि महापुरुषों की निन्दा करने वाला व्यक्ति तो पाप का भागी होता ही है, साथ ही जो लोग उस निन्दा को सुनते हैं वे भी पाप के भागी होते हैं। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पार्वती का शिव के प्रति अटूट प्रेम तथा भक्ति थी।

मनुस्मृति में भी इस प्रकार का विधान उपलब्ध होता है -

गुरोर्यत्र परिवादो निन्दा वापि प्रवर्तते।

कर्णो तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः॥

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धिः-किमप्ययं = किमपि + अयम्; पुनर्विवक्षुः = पुनः + विवक्षुः; महतोऽपभाषते = महतः + अपभाषते; तस्मादपि = तस्मात् + अपि।

समासः-स्फुरितोत्तराधरः = उत्तरः च अधरश्च इति उत्तराधरम् (कर्म०), स्फुरितम् उत्तराधरं यस्य सः (बहु०); पापभाक् = पापं भुनक्ति य सः (बहु०)।

पदपरिचयः-विवक्षुः = √वच् + सन् + उ प्र० वि० एक०; निवार्यताम् = नि + √वृ + णिच् कर्म० लोट् ल० प्र० पु० एक०; महतः = महत् शब्द ष० वि० एक०; अपभाषते = अप + √भाष् लट् ल० प्र० पु० एक०; शृणोति = √श्रु लट् ल० प्र० पु० एक०।

अलंकारः-अर्थान्तरन्यास

छन्दः-वंशस्थ।



84. प्रसंगः-पार्वती के सखि से ऐसा कहने और चल देने पर कि हे सखि! मैं ही यहाँ से चली जाती हूँ, शिव ने अपने वास्तविक रूप को प्रकट कर दिया-

इतो गमिष्याम्यथवेति वादिनी,

चचाल बाला स्तनभिन्नवल्कला।

स्वरूपमास्थाय च तां कृतस्मितः,

समाललम्बे वृषराजकेतनः॥ 84॥

अन्वयः-'अथवा इतः गमिष्यामि' इति वादिनी स्तनभिन्नवल्कला बाला चचाल। वृषराजकेतनश्च स्वरूपम् आस्थाय कृतस्मितः सन् तां समाललम्बे।

सञ्जीविनी टीका:—इत इति ॥ अथवा इतः अन्यत्र गमिष्यामि इति वादिनी वदन्ती स्तनभिनवल्कला स्तनाभ्यां भिनवल्कला रयवशात्कुचस्रस्तचीरा बाला पार्वती चचाल । वृषराजकेतनः वृषभध्वजः च स्वरूपम् आस्थाय निजरूपमाश्रित्य कृतस्मितः सन् तां पार्वतीं समाललम्बे जग्राह ।

शब्दार्थः—अथवा = या तो, इतः = यहाँ से, गमिष्यामि = चली जाऊँगी, इति = ऐसा, वादिनी = कहने वाली, स्तनभिनवल्कला = स्तनों से हटे हुए वल्कल वाली, बाला = पार्वती, चचाल = चल पड़ी, वृषराजकेतनः = बैल के ध्वजा चिह्न वाले, स्वरूपम् = रूप को, आस्थाय = धारण करके, कृतस्मितः = मुस्कुराते हुए, ताम् = उसको, समालम्बे = पकड़ लिया ।

अनुवादः—‘अथवा मैं ही यहाँ से चली जाऊँगी’ इस प्रकार कहती हुई स्तनों से हटे हुए वल्कल वाली पार्वती चल दी । बैल के ध्वजा चिह्न वाले शिव ने अपने (वास्तविक) रूप को धारण कर मुस्कुराते हुए उसको पकड़ लिया ।

Eng. Trans.:—Or rather, I (myself) will go from this place;” so saying the maiden, with the bark-garment slipping from her bosom, started : and the bull-emblem God, assuming his own form, held her, with a smile.

व्याख्या:—ब्रह्मचारी को शिव की निन्दा करने से रोकेने पर भी उसे कुछ और कहने के लिए इच्छुक देखकर पहले तो पार्वती ने अपनी सखी से उसे वहाँ से हट देने के लिए कहा परन्तु फिर स्वयं ही वहाँ से चले जाने का विचार किया । इसी बात को कवि कह रहे हैं कि अथवा यदि यह ब्रह्मचारी अपने कथन से स्वयं को शान्त नहीं करते हैं तो मैं ही इस स्थान से चली जाती हूँ । ऐसा कहकर पार्वती उस स्थान से जाने को तैयार होती है, वैसे ही शिवजी अपने वास्तविक स्वरूप को धारण कर मुस्कुराते हुए पार्वती को पकड़ लेते हैं अर्थात् वह पार्वती के समक्ष अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट कर देते हैं । शिव को मुस्कुराहट इसलिए आई क्योंकि उन्होंने पार्वती को उसकी इच्छा से विचलित करने का निरन्तर प्रयास किया लेकिन वह तनिक भी विचलित न हो सकी । शिव के प्रति उसका अनन्य प्रेम तथा अटूट भक्ति थी, अतः शिव पार्वती से पूर्णतया सन्तुष्ट हो गए । इसके अतिरिक्त शिव की मुस्कुराहट उसके सन्तोष की भी द्योतक थी ।

इस प्रकार ब्रह्मचारी वेषधारी शिव द्वारा उनके प्रति अनन्य अनुराग रखने वाली पार्वती की परीक्षा ले ली जाती है जिसमें वह उत्तीर्ण होती है अर्थात् शिव

को विश्वास हो जाता है कि उनके प्रति पार्वती का स्नेह अटूट तथा वास्तविक है। अतः वे प्रसन्न होकर अपने वास्तविक रूप को पार्वती के समक्ष प्रकट कर देते हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धि:-इतो गमिष्याम्यथवेति = इतः + गमिष्यामि + अथवा + इति।

समास:-स्तनभिन्नवल्कला = स्तनाभ्यां भिन्नम् इति स्तनभिन्नम् (सुप्सुपा स०), स्तनभिन्नं वल्कलं यस्याः सा (बहु०); वृषराजकेतनः = वृषाणां राजा इति वृषराजः (ष० त०), वृषराजः केतनं यस्य सः (बहु०); स्वरूपम् = स्वं रूपम् (कर्म०), कृतस्मितः = कृतं स्मितं येन सः (बहु०)।

पदपरिचय:-इतः = इदम् + तसिल्; गमिष्यामि = $\sqrt{\text{गम् लृट् ल० उ० पु० एक०}}$; वादिनी = $\sqrt{\text{वद् + णिनि + डीप् प्र० वि० एक०}}$; चचाल = $\sqrt{\text{चल् लिट् ल० प्र० पु० एक०}}$; आस्थाय = आ + $\sqrt{\text{स्था + ल्यप्}}$; कृतस्मितः = कृत + $\sqrt{\text{स्मि + क्त प्र० वि० एक०}}$; समाललम्बे = सम् + आ + $\sqrt{\text{लम्ब् लिट् ल० प्र० पु० एक०}}$ ।

अलंकार:-परिकर

छन्द:-वंशस्थ।



85. प्रसंग:-शिव के द्वारा पार्वती को पकड़ लेने पर पार्वती की मानसिक स्थिति का वर्णन करते हुए कवि कह रहे हैं कि-

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि-

निक्षेपणाय पदमुद्धतमुद्धहन्ती।

मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः,

शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥ 85 ॥

अन्वय:-तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिः निक्षेपणाय उद्धतं पदं उद्धहन्ती शैलाधिराजतनया, मार्गाचलव्यतिकराकुलिता सिन्धुः इव न ययौ न तस्थौ।

सङ्गीविनी टीका:-तमिति ॥ तं देवं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिः स्विनगात्री। महादेवदर्शनेन देव्याः सात्त्विकभावोदय उक्तः। निक्षेपणाय अन्यत्र विन्यासाय उद्धतम् उत्क्षिप्तं पदम् अङ्घ्रिम् उद्धहन्ती शैलाधिराजतनया पार्वती

मार्गाचलव्यतिकराकुलिता मार्गेऽचलस्तस्य व्यतिकरेण समाहृत्या । अवरोधनेनेति यावत् । आकुलिता संभ्रमिता सिन्धुः नदी इव । 'देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम् ।' इत्यमरः । न ययौ न तस्थौ लज्जयेति भावः । वसन्ततिलका वृत्तमेतत् ।

शब्दार्थः—तम् = उस (शिव) को, वीक्ष्य = देखकर, वेपथुमती = कम्पन से युक्त, सरसाङ्गयष्टिः = पसीने से युक्त शरीर वाली, निक्षेपणाय = अन्यत्र गमन करने के लिए, उद्धृतम् = उठाए हुए, पदम् = पैर को, उद्वहन्ती = धारण करती हुई, शैलाधिराजतनया = पर्वतराज की पुत्री (पार्वती), मार्गाचलव्यतिकराकुलिता = मार्ग में पर्वत के सम्पर्क से व्याकुल, सिन्धुः = नदी के, इव = समान, न ययौ = न आगे बढ़ सकी, न तस्थौ = न ठहर सकी ।

अनुवादः—उस (शिव) को देखकर कम्पन और पसीने से युक्त शरीर वाली, अन्यत्र गमन करने के लिए उठाए हुए पैर को धारण करती हुई पर्वतराज (हिमालय) की पुत्री (पार्वती) मार्ग में पर्वत से अवरुद्ध गति वाली नदी के समान न तो आगे बढ़ सकी और न ही ठहर सकी ।

Eng. Trans.:—On seeing him, the daughter of the Mountain-lord, all a trembling and her body covered with perspiration, and having one foot raised to walk away, was uncertain whether to go or to stay, like a river hampered by the impediment of a mountain in the path.

व्याख्या:—प्रियतम को सहसा सामने देखकर नायिका की कैसी स्थिति हो जाती है इसका सुन्दर चित्र कवि ने इस श्लोक में व्यक्त किया है कि भगवान् शिव को वास्तविक रूप में अपने सामने देखकर पर्वतराज पुत्री काँपने लगी, उसके समस्त शरीर में पसीना आ गया और आगे रखने के लिए उठाए हुए पैर को धारण करती हुई वह मार्ग में आए हुए पर्वत के सम्पर्क से व्याकुल हुई अर्थात् रुके हुए प्रवाह वाली नदी के समान न आगे चल सकी और न वहाँ खड़ी ही रह सकी अर्थात् जिस प्रकार अपने मार्ग पर जाती हुई नदी के सामने पर्वत के आ जाने पर प्रवाह रुक जाने के कारण वह न आगे जा सकती है और न ही उसी ढंग से रह सकती है अपितु उसमें खलबली सी मच जाती है । उसी प्रकार पार्वती भी शिव को सामने देखकर न आगे चल सकी और न ही पीछे हट सकी, अपितु सहमी सी होकर वहीं खड़ी रही ।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धिः-मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव = मार्गाचलव्यतिकराकुलिता + इव ।

समासः-सरसाङ्गयष्टिः = अङ्गं यष्टिः इव अङ्गयष्टिः (उपमित त०), रसेन सह वर्तमाना सरसा (अव्ययी०), सरसा अङ्गयष्टि यस्याः सा (बहु०); शैलाधिराजतनया = शैलानाम् अधिराजः (ष० त०), तस्य तनया (ष० त०); मार्गाचलव्यतिकराकुलिता = न चलः अचलः (नञ् त०), अचलस्य व्यतिकरः (ष० त०), मार्गे अचलव्यतिकरः (स० त०), तेन आकुलिता (तृ० त०) ।

पदपरिचय :- वीक्ष्य = वि + √ईक्ष् + ल्यप्; वेपथुमती = √वेप् + अथुच् + मतुप् + डीप् प्र० वि० एक०; निक्षेपणाय = नि + √क्षिप् + ल्युट् च० वि० एक०; उद्धृतम् = उद् + √ह् + क्त द्वि० वि० एक०; उद्वहन्ती = उत् + √वह् + शतृ + डीप् प्र० वि० एक०; ययौ = √या + लिट् ल० प्र० पु० एक०; तस्थौ = √स्था लिट् ल० प्र० पु० एक० ।

अलंकारः-उपमा

छन्दः-वसन्ततिलका ।



86. प्रसंगः-अपने प्रति अनन्य अनुराग को देखकर शिव पार्वती से अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने पार्वती से कहा-

अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः,

क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ ।

अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज,

क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ॥ 86 ॥

अन्वयः-हे अवनताङ्गि ! अद्य प्रभृति तपोभिः क्रीतः तव दासः अस्मि । चन्द्रमौलौ इति वादिनि सा अह्नाय नियमजं क्लमम् उत्ससर्ज । हि क्लेशः फलेन पुनः नवतां विधत्ते ।

सञ्जीविनी टीका:-अद्येति ॥ चन्द्रमौलो शिवे । हे अवनताङ्गि पार्वति, अद्य प्रभृति । अस्माद्दिनादारभ्येत्यर्थः । प्रभृतियोगादद्येति सप्तम्यर्थवाचिना पञ्चम्यर्थो लक्ष्यते । तव तपोभिः क्रीतः । दासृ दाने । दासत आत्मानं ददातीति दासोऽस्मीति वादिनि वदति सति । सा देव्यह्नाय सपदि । 'स्नागङ्गटित्यञ्जसाह्नाय द्राङ्मङ्क्षु सपदि

द्रुतम्' इत्यमरः। नियमजं तपोजन्यं क्लमं क्लेशमुत्ससर्ज। फलप्राप्त्या क्लेशं विसस्मारेत्यर्थः। तथाहि। क्लेशः फलेन फलसिद्ध्या पुनर्वतां विधत्ते पूर्ववदेवाक्लिष्टतामापादयतीत्यर्थः। सफलः क्लेशो न क्लेश इति भावः।

शब्दार्थः—अवनताङ्गि = हे विनम्र अंगों वाली!, अद्यप्रभृति = आज से लेकर, तव = तुम्हारी, तपोभिः = तपस्या से, क्रीतः = मोल लिया हुआ, दासः = सेवक, अस्मि = हूँ, इति = इस प्रकार, चन्द्रमौलौ = शिव के, वादिनि = कहने पर, सा = वह (पार्वती), अह्नाय = एकदम, नियमजम् = तप से उत्पन्न, क्लमम् = श्रम को, उत्ससर्ज = भूल गई, हि = क्योंकि, क्लेशः = कष्ट, फलेन = फल मिल जाने से, पुनः = फिर से, नवताम् = नवीनता को, विधत्ते = धारण कर लेता है।

अनुवादः—हे विनम्र अंगों वाली (पार्वती)! आज से लेकर मैं तुम्हारी तपस्या के द्वारा मोल लिया हुआ (तुम्हारा) सेवक हूँ। शिव के इस प्रकार कहने पर वह (पार्वती) अपने तपोजन्य कष्ट को भूल गई क्योंकि फल की प्राप्ति हो जाने पर कष्ट फिर से नवीनता को धारण कर लेता है।

Eng. Trans.—“O thou of stooping limbs, henceforth I am thy slave, bought by thy austerities”—as the Moon crested God said these words, she immediately forgot (all) her exhaustion caused by the austerities: for, fatigue gives fresh vigour again by the fruition (i.e. the achievement of the desired object).

व्याख्या—पार्वती की तपस्या से अत्यधिक सन्तुष्ट शिव ने पार्वती से कहा—‘हे पार्वती! तुमने अपनी तपस्या के द्वारा मुझे खरीद लिया है। आज से मैं तुम्हारे द्वारा खरीदा गया दास हूँ।’ शिव के इन वचनों को सुनकर पार्वती अत्यन्त प्रसन्न हुई और तपस्या से उत्पन्न सम्पूर्ण कष्टों को भूल गई क्योंकि अनेक कष्टों को सहन करने के उपरान्त भी यदि व्यक्ति को सफलता प्राप्त हो जाती है तो वह अपनी सफलता की उपलब्धि के कारण अपने विगत सभी कष्टों को भूल जाता है। यह स्वाभाविक तथ्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि शिव को प्राप्त करने के लिए पार्वती ने जो कठोर तपस्या की थी, उसके कारण उसे जिन महान् कष्टों को सहन करना पड़ा था, शिव की प्राप्ति के बाद वह उन कष्टों को एकदम भूल गई, क्योंकि जिस कार्य की सफलता के लिए कठोर परिश्रम किया जाता है और उसमें

पूर्ण सफलता मिल जाती है तो मनुष्य उन कष्टों को भूल जाता है जो उसे अपने उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त सहन करने पड़े थे।

व्याकरणात्मक टिप्पणी:-

सन्धि:-अद्यप्रभृत्यनवताङ्गि = अद्यप्रभृति + अवनताङ्गि; तवास्मि = तव + अस्मि; क्रीतस्तपोभिरिति = क्रीतः + तपोभिः + इति।

समास:-अवनताङ्गि = अवनतम् अङ्गं यस्याः सा(बहु०) तत्सम्बुद्धौ; चन्द्रमौलौ = चन्द्रः मौलिः यस्य सः चन्द्रमौलिः (बहु०) तस्मिन्; नियमजाम् = नियमात् जायते (उपपद त०) तम्; नवताम् = नवस्य भावः नवता (ष०त०) ताम्।

पदपरिचय:-अवनता = अव + √नम् + क्त; क्रीतः = √क्री + क्त प्र०वि०एक०; अस्मि = √अस् लट् ल०उ०पु०एक०; वादिनि = √वद् + णिनि स०वि०एक०; नियमजम् = नियम + √जन् + ड द्वि०वि०एक०; क्लमम् = √क्लम् + घञ् द्वि०वि०एक०; उत्ससर्ज = उत् + √सृज् लिट् ल०प्र०पु०एक०; नवताम् = नव + तल् + टप् द्वि०वि०एक०; विधत्ते = वि + √धा लट् ल०प्र०पु०एक०।

अलंकार:-अर्थान्तरन्यास

छन्द:-वसन्ततिलका।

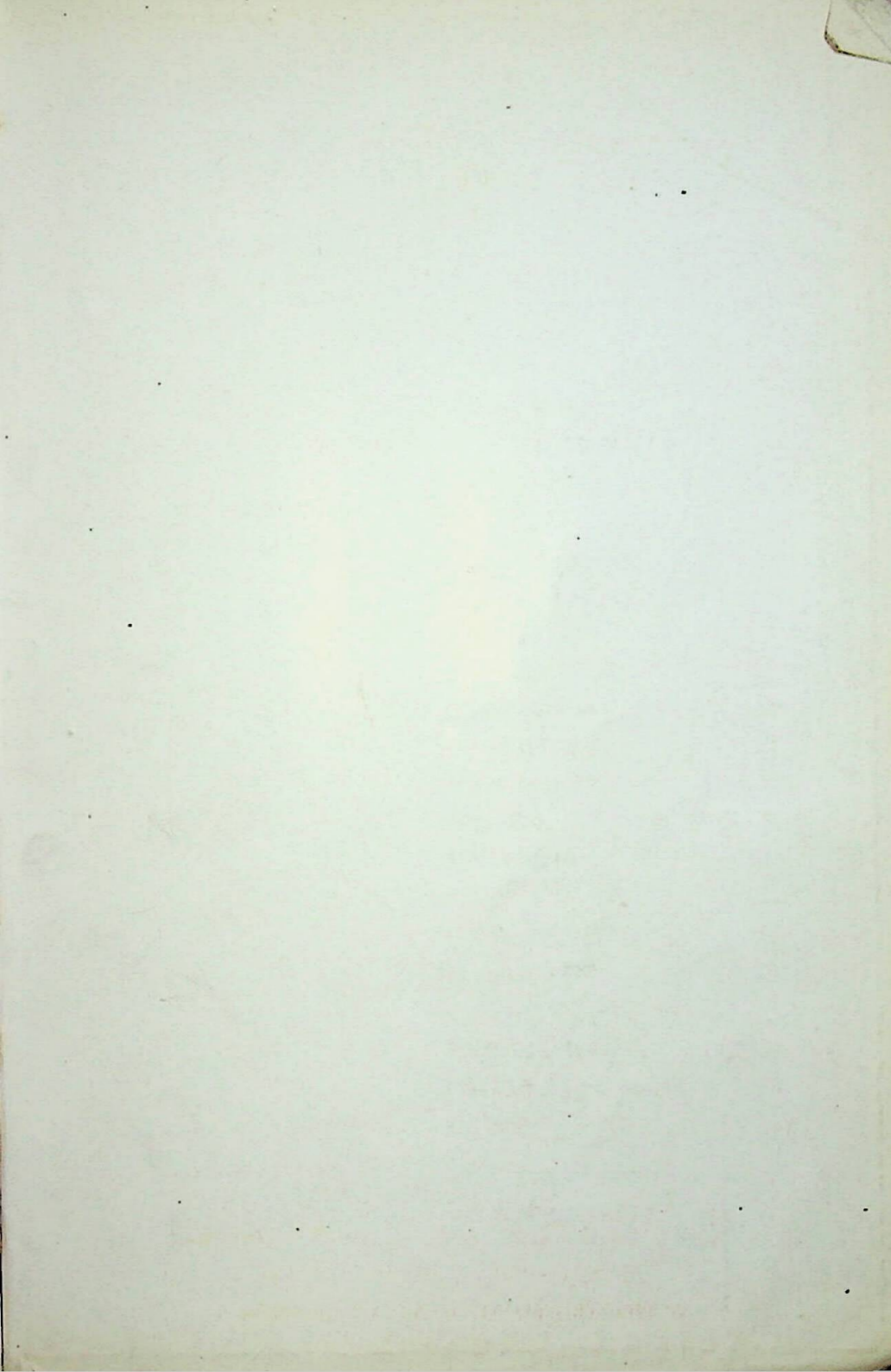


श्लोकानुक्रमणिका

अ	श्लोक	इ	श्लोक
अथानुरूपाभिनिभे	7	इयेष सा कर्तुमवन्ध्य	2
अतन्द्रिता सा स्वयं	14	इति ध्रुवेच्छामनुशा	5
अरण्यबीजाञ्जलि	15	इति प्रविश्याभिहिता	51
अयाचितोपस्थित	22	इयं महेन्द्रप्रभृतीन्	53
अथाजिनाषाढधर	30	इयं च तेऽन्या पुरतो	70
अपि क्रियार्थे सुल.	33	इति द्विजातौ प्रतिकूल	74
अपि त्वदावार्जित	34	इतो गमिष्याम्यथवेति	84
अपि प्रसन्नं हरि.	35	उ	
अनेन धर्मः स	38	उपात्तवर्णे चरिते	56
अतोऽत्र किञ्चिद्	40	उवाच चैनं परमा	75
अलभ्यशोकाभिभ.	43	क	
अहो स्थिरः कोऽपि	47	कदाचिदासन्नसखी	6
अवैमि सौभाग्य	49	कृताभिषेकां हुत	16
असह्यहुँकारनिवर्ति	54	क्लमं ययौ कन्दुक	19
अगूढसद्भावमितीङ्गि	62	कुले प्रसूतिः प्रथमस्य	41
अथाग्रहस्ते मुकुलीकृता.	63	किमित्यपास्याम	44
अथाह वर्णी विदितो	65	कियच्चिरं श्राम्यसि	50
अवस्तुनिर्बन्धपरे	66	च	
अयुक्तरूपं किमतः	69	चतुष्कपुष्पप्रकरावक.	68
अकिञ्चनः सन् प्रभवः	77	त	
असंपदस्तस्य वृषेण	80	तथा समक्षं दहता मनो	1
अलं विवादेन यथा	82	तथातितप्तं सवितु.	21
अद्यप्रभृत्यवनता.	86	तमातिथेयी बहुमान	31

	श्लोक		श्लोक
तदा प्रभृत्युन्मदना	55	मृणालिकापेलव	29
त्रिभागशेषासुनिशासु	57	मुनिव्रतैस्त्वामति	48
त्वमेव तावत् परिचिन्त	67	य	
तदङ्गसंसर्गमवाप्य	79	यथा प्रसिद्धैर्मधुरं	9
तं वीक्ष्य वेपथुमती	85	यदा फलं पूर्वतपः	18
द		यदुच्यते पार्वति	36
दिवं यदि प्रार्थयसे	45	यदा बुधैः सर्वगतः	58
द्रमेषु सख्यां कृत	60	यदा च तस्याधिगमे	59
द्वयं गतं सम्प्रति	71	यथा श्रुतं वेदविदां	64
न		व	
निशम्य चैनां तपसे	3	विमुच्य सा हारा	8
निकामतप्ता विविधेन	23	विसृष्टरागादधरान्	11
निनाय सात्यन्त	26	विरोधिसत्त्वोद्भितपूर्व	17
निवेदितं निश्वसि	46	विधिप्रयुक्तां परिगृह्य	32
न वेद्मि स प्रार्थित	61	विकीर्णसप्तर्षिबलि	37
निवर्तयास्मादस	73	वपुर्विरूपाक्षमल	72
निवार्यतामालि	83	विपत्प्रतीकारपरेण	76
प		विभूषणोद्भासि	78
प्रतिक्षणं सा कृतराम	10	विवक्षता दोषमवि	81
पुनर्गृहीतुं नियमस्थ	13	श	
प्रयुक्त सत्कारविशेष	39	शुचौ चतुर्णां ज्वलतां	20
भ		शिलाशयां तामनि	25
भवत्यनिष्ट्यदपि नाम	42	स	
म		स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु	24
मनीषिताः सन्ति गृहेषु	4	स्वयं विशीर्णद्रुम	28
महार्हशय्यापरिवर्त	12	सखी तदीया तमुवाच	52
मुखेन सा पद्म सुग.	27		

113
2116,33
85,45



अन्य छात्रोपयोगी ग्रन्थ

संस्कृतपाठ्यसंकलन	डॉ. शशि तिवारी
दूतवाक्यम्	डॉ. शशि तिवारी
कैनोपनिषद् ब्रह्मभूमिका और व्याख्या	डॉ. शशि तिवारी
राष्ट्रीयता एवं भारतीय साहित्य	डॉ. शशि तिवारी
गीता विमर्श	डॉ. शशि तिवारी
पञ्चतन्त्रम् ब्रह्मअपरीक्षितकारकम्	डॉ. पुष्पा गुप्ता
मुण्डकोपनिषद्	डॉ. जियालाल
कम्बोज	
उत्कीर्णलेखस्तबकः	डॉ. जियालाल
कम्बोज	
सौन्दर्यनन्दमहाकाव्यम्	डॉ. जियालाल
कम्बोज	
संस्कृत निबन्धाञ्जलिः	डॉ. सावित्री गुप्ता
किरातार्जुनीयम् ब्रह्मप्रथम सर्गः	डॉ. सावित्री गुप्ता
किरातार्जुनीयम् ब्रह्म 1-2 सर्गः	डॉ. सावित्री गुप्ता
छन्दो *लटारसौरभम्	डॉ. सावित्री गुप्ता
प्रतिमानाटकम्	डॉ. सावित्री गुप्ता
नीतिशतकम्	डॉ. सावित्री गुप्ता
मनुस्मृतिः ब्रह्मद्वितीय अध्यायः	डॉ. राकेश शास्त्री
मनुस्मृतिः ब्रह्मसप्तम अध्यायः	डॉ. राकेश शास्त्री
नाट्यशास्त्रम् ब्रह्म 1, 2, 6 अध्यायः	प्रो. ब्रजमोहन
चतुर्वेदी	
ईशावास्योपनिषद्	डॉ. शर्मिष्ठा शर्मा
लघुसि) अन्तकौमुदी	डॉ. रमण कुमार
शर्मा	
शुकनासोपदेशः	डॉ. अर्चना त्यागी
पञ्चतन्त्रम् ब्रह्मलब्धप्रणाशम्	डॉ. कमलेश गर्ग
वैदिकसूक्तमञ्जरी	डॉ. कामिनी तनेजा
आधुनिक संस्कृत साहित्य संचयन	डॉ. गिरीशचन्द्र पंत

Vidyanidhi Prakashan

D-10/1061 (Near Shrimahagauri Temple)

Khajuri Khas, Delhi-110090

e-mail : vidyanidhiprakashan@hotmail.com